विषय-सूची

दो शब्द

स्वर्गीय डॉ० बड़थ्वाल की कृति 'सूरदास' (जीवन सामग्री) का प्रकाशन साहित्यिक शोध के ऐतिहासिक क्रम से आज से दस वर्ष पूर्व हो जाना चाहिये था। उनके जीवन-काल में प्रकाशित होकर, रचना में उनके दृष्टिकोण और विश्लेषण को जो महत्व मिलता, वह आज नहीं मिल सकता, क्योंकि उस समय प्रकाशित होने पर इस विषय पर लिखने वाले परवर्ती विद्वान् उसका उपयोग, विवेचन एवं विकासादि कर सकते थे। पर आज ऐसा सम्भव नहीं है। इस बीच में सूरदास के जीवन और साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें विशेष महत्वपूर्ण डॉ० जनार्दन मिश्र कृत 'सूरदास', आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'सूरसाहित्य', डॉ० रामरतन भटनागर कृत 'सूरसाहित्य की भूमिका', पं० मुंशीराम शर्मा 'कृत सूरसौरभ', डॉ० दीनदयालु गुप्त कृत 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' तथा डॉ०ब्रजेश्वर वर्मा कृत 'सूरदास' हैं। इनमें प्रथम तीन में सामान्य, किंतु अन्तिम तीन में विशेष खोजपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। विचार और दृष्टिकोण की नवीनता हमें 'सूरसौरभ' में मिलती है, किन्तु समस्त सामग्री का तर्कसंगत अध्ययन एवं वैज्ञानिक विवेचन हमें 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' में प्राप्त होता है। 'सूरदास' में समस्त सामग्री का उपयोग-कर पूरी जानकारी सामने रक्खी गई है, किन्तु निष्कर्ष और विश्लेषण

अधिक गंभीर और सर्वमान्य नहीं। यह अवश्य है कि अन्तिम अध्ययन द्वारा सूर के जीवन और साहित्य-सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डालने के प्रयास की पूर्णता हो जाती है।

इतना होते हुए भी विद्वानों में उनके जन्मस्थान, जन्मतिथि, जाति, माता-पिता, रचनाओं आदि से सम्बन्धित उल्लेखों में बड़ा मतभेद है। और निश्चित रूप से आज भी नहीं कहा जा सकता कि इनमें से किसी भी एक विद्वान् का मत पूर्णतया मान्य है, क्योंकि उसके विपक्षी मत के सम्बन्ध में भी समुचित तर्क पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ डॉ० गुप्त का मत है कि 'सूरसारावली' सूर की स्वतंत्र, निजी एवं पूर्ण रचना है। यह न केवल सूरसागर की विषय-सूची मात्र है, वरन्, उसका और भागवत की कथा का संक्षिप्त सारांश है। अपने इस कथन के पक्ष में उन्होंने अनेक प्रमाण दिये हैं।* किंतु, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार यह अष्टछापी सूरदास की नहीं, वरन् किसी अन्य सूरदास की कृति है; क्योंकि सारावली के अन्तर्गत जो आत्म-विज्ञापन का भाव है वह अष्टछापी सूर की प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है। साथ ही साथ भाव और रचनाशैली में भी उन्हें भिन्नता दिखलाई देती है। इसके भी उन्होंने अपने तर्क और प्रमाण *दिये हैं। इस प्रकार मत-भेद का अवकाश इतने ग्रन्थों की रचना के बाद भी बना रहता है।

---

* देखिये 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय', भाग १; पृष्ठ २८४
* देखिये 'सूरदास' (डा० ब्रजेश्वर वर्मा), पृ० ८३

ऐसी दशा में डॉ० बड़थ्वाल के दृष्टिकोण से प्रस्तुत इस सामग्री की अवहेलना नहीं की जा सकती। जहाँ तक सामग्री की प्रामाणिकता का प्रश्न है, वहाँ तो उन्होंने जिन स्रोतों का उपयोग किया है, वे अधिक सम्मान्य नहीं, क्योंकि वे अष्टछापी सूरदास को सूरदास मदन-मोहन और सूरदास बिल्वमंगल आदि के साथ मिला देने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। किंतु जहाँ तक उस सामग्री के विश्लेषण, व्याख्या और फल-स्वरूप निष्कर्षों का प्रश्न है, प्रस्तुत अध्ययन महत्वपूर्ण है और इसमें प्राप्त अनेक अनुमानों और सुझावों को महत्वहीन सिद्ध नहीं किया जा सकता।

डॉ० बड़थ्वाल की इस कृति में, सूरदास के सम्बन्ध में बिखरी सामग्री को एकत्र करके उसे विचार-सूत्र-द्वारा गूँथने का प्रथम प्रयत्न है। (जो प्रकाशन-क्रम से ही आज अन्तिम हो गया है) और इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्व है। विस्तृत रूप मे प्राप्त अन्तर्साक्ष्य और वहिर्साक्ष्यों के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों में मतभेद होने के कारण, आज भी उनके दृष्टिकोण का महत्व देखा जा सकता है। आशा है कि तुलनात्मक अध्ययन के लिए सूर के विद्यार्थियों को यह कृति उपयोगी एवं महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

—भगीरथ मिश्र

[जीवन-सामग्री]

भारतीय कवि अपनी कविता के प्रचार के जितने इच्छुक रहे हैं उतने स्वयं अपनी ख्याति के नहीं। प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं में पाये जानेवाले प्रक्षिप्तांश उनकी इस प्रवृत्ति के साक्षी हैं। न जाने कितने कवियों की कृतियाँ आज भी हमारे हृदय को आनंदोद्वेलित कर रही हैं, किंतु हमारे पास यह जानने का साधन नहीं कि हमें उनके लिए किसका कृतज्ञ होना चाहिए। आत्म-प्रख्याति की इसी उपेक्षा के कारण आज बहुत से कवियों का नाम तक अतीत के अंधकारमय गर्त में विलीन हो गया है। जिन कवियों को यह उपेक्षित ख्याति प्राप्त भी हुई है, उनका भी हम नाम ही नाम जानते हैं, उनके जीवन की घटनाओं के प्रामाणिक विवरण हमें उपलब्ध नहीं होते; उनके संबंध में जिज्ञासा-तृप्ति का, अनुमान और किंवदंतियों को छोड़कर और कोई साधन नहीं रह जाता। ऐसी दशा में उनकी रचनाओं में यदि परोक्षरूप से भी कहीं उनके जीवन की घटनाओं की ओर कोई संभव संकेत मिल जाता है तो उसी के सहारे अनुमान भिड़ाने और किंवदंतियों को अस्थायीरूप से सत्य मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

यद्यपि सूरदास का जीवन-वृत्त संघटित करने के लिए भी अनुमान का अभ्यास और किंवदंतियों का आश्रय आवश्यक है, किंतु सौभाग्यवश

उसके लिए कुछ और सामग्री भी हमें सुलभ है। स्वयं सूरदासजी ने अपनी वंश-परंपरा के संबंध में 'साहित्य लहरी' में एक पद कहा है। इसके अतिरिक्त 'आइनेअकबरी' 'मुंतखिबुल् तवारीख' और 'मुंशियात अबुल फ़ज़ल' में उनका अथवा उनके पिता का उल्लेख मिलता है। आइने-अकबरी का कर्त्ता अकबर बादशाह का वज़ीर शेख अबुलफ़ज़ल नागौरी था। अबुलफ़ज़ल अकबर का बड़ा भक्त था और बात-बात पर उसे बढ़ाने का प्रयत्न करता था। अन्य मुसलमान लेखकों की तरह हिंदुओं की निंदा नहीं करता था क्योंकि वह सूफ़ियाना ख्याल का आदमी था और हिंदुओं की सभ्यता का कायल था। 'मुंशियात अबुलफ़ज़ल' भी इसी निर्द्वंप मुसलमान वजीर के समय-समय पर लिखे पत्रों का संग्रह है जिसका उसके भानजे अब्दुलसमद ने संवत् १६६३ में संकलन किया था। मुंतखिबुल् तवारीख की रचना भी अकबर के राजत्वकाल में हुई थी। इसका रचयिता मुल्ला अब्दुलकादिर है, जिसका अकबर से धार्मिक मत-विरोध था। बहुत सी बातें जो अबुलफ़ज़ल ने पक्षपात से नहीं लिखी थीं, वे इस इतिहास ग्रंथ में वर्णित हैं। बैरमखाँ के विद्रोह के प्रसंग में इसमें सूरदास के पिता का उल्लेख है।

भक्तों ने भी सूरदास के संबंध में कुछ लिखा है। गोकुलनाथजी के नाम से प्रचलित 'चौरासी वैष्णवन को वार्ता' में सूरदासजी के जीवन के छः प्रसंग वर्णित हैं। गोकुलनाथ का जन्म संवत् १६०८ में हुआ था और सूरदास की मृत्यु लगभग १६४१ में हुई। अतएव गोकुलनाथजी की लिखी बातों को बहुत कुछ प्रामाणिक मानना चाहिए। कुछ घटनाएँ तो उन्होंने अपनी आँखों देखी होंगी और जो बातें उन्होंने सुनकर लिखी होंगी उनमें भी तथ्यांश रहा होगा। ध्रुवदास आदि-आदि अन्य भक्तों की रचनाओं में भी कहीं-कहीं सूर का उल्लेख मिल जाता है। नाभादास जी ने सूरदास पर एक छप्पय लिखा है जिसकी टीका में प्रियादास ने सूरदास का कुछ वृत्त लिखा है। इसका आधार जनश्रुति ही

समझना चाहिए। नागरीदास जी तथा रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह, मियाँसिंह आदि पीछे के भक्तों की रचनाओं में जो सूर का वर्णन मिलता है उसे भी किंवदंती ही मानना पड़ेगा। शिवसिंह सेंगर ने लिखा है "गोपालसिंह ब्रजवासी ने तुलसी शब्दार्थ प्रकाश नामक ग्रंथ बनाया है, जिसमें उसने अष्टछाप के कवियों का वर्णन कर उनके पद दिये हैं। बहुत खोज करने पर भी यह ग्रंथ हमारे देखने में नहीं आया।"*

ऊपर की बहुत कुछ सामग्री के आधार पर मुंशी देवीप्रसाद और बाबू राधाकृष्णदास ने संवत् १६६२ में सूरदास की अलग-अलग छोटी-छोटी जीवनियाँ लिखीं। हमने इन दोनों पुस्तकों से यथेष्ट लाभ उठाया है, यद्यपि जहाँ तक बन पड़ा है, हमने मूल सामग्री को देखे बिना कोई मत स्थिर नहीं किया है।

---

* सरोज, नवलकिशोर प्रेस, सन् १९२६, पृ० ४१०।

वंश-परंपरा

साहित्यलहरी में सूरदास ने अपनी वंश-परम्परा का इस प्रकार वर्णन किया है-

प्रथम पृथु याग तें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दयो, शिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो, दुर्गा! पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायन सुरन के, सुर सहित स्तुति कीन।
तासु वंश प्रसिद्ध मै, भो'चंद चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीनो तिनहिं ज्वाला देश।
तनय ताके चारि, कीने प्रथम आपु नरेश॥
दूसरे गुन चंद्र, ता सुत शील चंद्र सरूप।
वीरचंद, प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रत्नभार हमीर भूपति संग खेलत आय।
तासु वंश अनूप भो हरिचंद अति विख्याय॥
आगरा रहि गोपचल में रहे ता सुत वीर।
पुत्र जन्मे सात ताके महाभट गंभीर॥
कृष्णचंद, उदारचंद जु रूपचंद सुभाय।
बुद्धिचंद प्रकाश चौथो चंद भो सुखदाय॥
देवचंद प्रबोध संसृतचंद ताको नाम।
भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकाम॥

सो समर करि स्याहिसेवक गये विधि के लोक।
रहे सूरजचंद दृग तैं हीन भर वर शोक॥
परो कूप पुकार काहू ना सुनी संसार।
सातयें दिन आय यदुपति कीन आपु उधार॥
दियो चष, दै कही, शिशु माँगु वर जो मन चाइ।
हौं कही प्रभु भक्ति चाहत शत्रु नाश सुभाइ॥
दूसरो ना रूप देखौं देखि राधास्याम।
सुनत करुणासिंधु भाखी एवमस्तु सुधाम॥
प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें शत्रु ह्वै है नास।
अखिल बुद्धि विचारि विद्यामान मानै सास॥
नाम राखे मोर सूरजदास सूर सुस्याम।
भये अंतर्धान बीते पाछिली निसि जाम॥
मोहि पन सो इहै व्रजको बसै सुख चित थाप।
थापि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप॥
विप्र पृथु के याग को हैं भाव भूरि निकाम।
सूर है नंद-नंद जू को मोल लयो गुलाम॥*

अर्थात् पहले पृथुराजा के यज्ञ में से एक अद्भुत रूपवाला पुरुष उत्पन्न हुआ जिसका नाम ब्रह्मा ने विचार कर ब्रह्मराव रक्खा। स्वयं दुर्गा ने स्तन-पान कराकर उसका पोषण किया। शिव आदि देवताओं को इससे बड़ा आनंद हुआ। उन्होंने उसकी विशिष्टता पर दुर्गा को बधाई दी। देवी ने उसे देवताओं के चरणों में नत कराया। उसने देवताओं की स्तुति

---

* साहित्य लहरी के इस पद को आधुनिक विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है, देखिये, (१) मिश्रबंधु-कृत 'हिन्दी नवरत्न,' पृ० २२६। (२) डा० दीनदयालु गुप्त-कृत 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' भाग १, पृ० ६०। संपादक।

की। इसी ब्रह्मराव के वंश में सुंदर नवीन (चंद्रमास्वरूप) चंद उत्पन्न हुआ जिसको पृथ्वीराज ने ज्वालादेश दान दिया। चंद के चार लड़के हुए। पहले को स्वयं चंद ने ज्वाला देश का राजा बनाया। दूसरे का नाम गुणचंद था। गुणचंद के शीलचंद हुआ जो रूपवान था। शीलचंद का वीरचंद हुआ जो रणथंभौर के राजा हम्मीर का बालसखा था। इसी वीरचंद के वंश में अनुपम ख्यातिवाले हरिश्चंद्र उत्पन्न हुए। हरिश्चन्द का वीर पुत्र आगरे से आकर गोपाचल में रहने लगा। वहाँ उसके सात पुत्र उत्पन्न हुए जो बड़े वीर थे। कृष्णचंद, उदारचंद, रूपचंद, बुद्धिचंद, देवचंद, प्रबोधचंद संसार में चंद्रमा के समान थे। किंतु सातवाँ जिसका नाम सूरजचंद था मंदबुद्धि और निकम्मा हुआ। और तो जो शाह के सेवक थे लड़ाई करके ब्रह्मधाम को सिधार गये। अंधा होने के कारण शोकपूर्ण सूरजचंद बच रहा। मैं एकबार कुएँ में गिर पड़ा। किसी ने मेरा रोना-चिल्लाना न सुना। सातवें दिन स्वयं यदुपति कृष्ण ने कुएँ से मेरा उद्धार किया। उन्होंने मुझे आँखें प्रदान कर मनोवांछित वर माँगने को कहा। मैंने स्वाभाविक रूप से वर माँगा कि एक तो मुझे आपकी भक्ति मिले, दूसरे हमारे शत्रुओं का नाश हो और तीसरे यह कि जिन आँखों से राधाश्याम के दर्शन किये हैं उनसे औरों का रूप न देखने पाऊँ। ऐसा ही होगा, कहकर उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि दक्षिण के प्रबल ब्राह्मण-कुल के द्वारा तुम्हारे शत्रुओं का नाश होगा और तुम बुद्धि, विचार और विद्या से युक्त होगे। मेरा नाम सूरजदास और सूरश्याम रखकर वे पिछली रात बीते अंतर्द्धान हो गये। मेरा प्रण यही हो गया कि ब्रजवास से प्राप्त होनेवाले सुख को चित्त में स्थापित करूँ। गोसाईं जी ने अष्टछाप में मेरी स्थापना की। पृथु यज्ञ से उत्पन्न कुल का ब्राह्मण होने के कारण ही मेरा लोग बहुत मूल्य करते हैं, नहीं तो मैं नंद-नंदन कृष्ण का खरीदा हुआ गुलाम बहुत ही निकम्मा हूँ।"

सूरदास जी का यह पद सबसे पहले 'ब्रह्मभट्ट प्रकाश' नामक ग्रंथ

में उद्धृत किया गया, परंतु संपूर्ण नहीं। प्रथम चार पद और अंत का एक, कुल मिलाकर पाँच पद उसमें उद्धृत हैं। साहित्य लहरी के इस पद की ओर पहले पहल साहित्य-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र को है। संवत् १९३५ में अपनी हरिश्चंद्र-चंद्रिका में उन्होंने एक लेख छपवाया था जिसमें इस पद पर विचार किया गया था। इस पद के अनुसार सूरदास की वंश-परंपरा यों ठहरती है—

कृष्णचंद, उदारचंद, रूपचंद, बुद्धिचंद, देवचंद, प्रबोधचंद, सूरजचंद,

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी को सूर का एक और वंशवृक्ष मिला है। शास्त्री जी ने सन् १९०९ से सन् १९१३ तक ऐतिहासिक काव्यों की खोज के संबंध में राजपूताने में तीन यात्राएँ की थीं जिनका विवरण

बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने छापा है। इसी विवरण में उन्होंने चंद का वंशवृक्ष भी दिया है जो उन्हें चन्द के वंशधरों की नागौरी शाखा के वर्तमान प्रतिनिधि नानूराम से मिला था। इस वंशवृक्ष में सूरदास का भी नाम आता है और ऊपर दिये हुए सूरदास के वंशवृक्ष से यह बहुत मिलता-जुलता है। यह वंशवृक्ष वर्तमान काल तक लाया गया है, पर हमें संपूर्ण वंशवृक्ष से मतलब नहीं। सूरदास तक का ही अंश इस समय हमारे काम का है। इसलिए उतना ही यहाँ पर दिया जाता है —
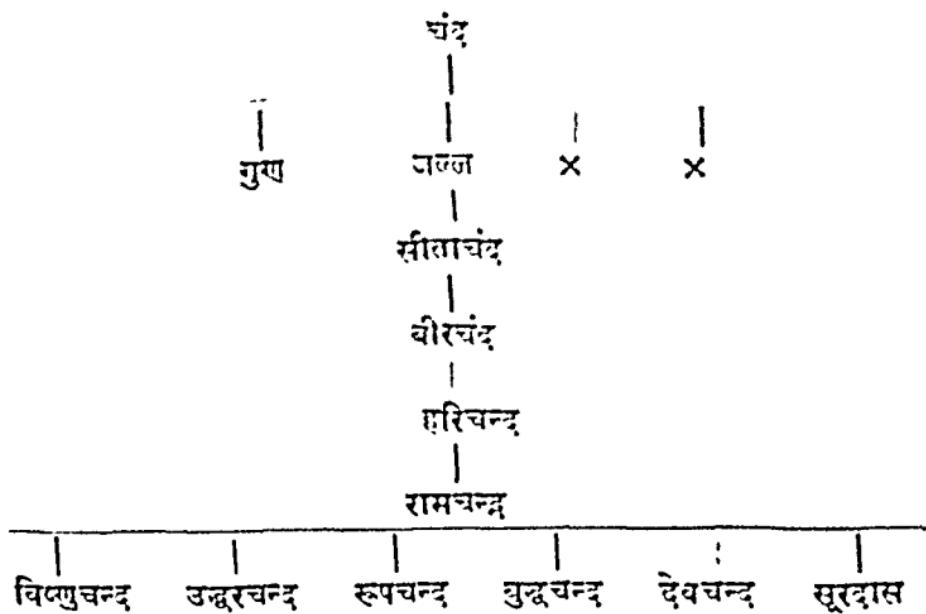
इन दोनों वंशवृक्षों में इतना अधिक साम्य है कि दोनों एक दूसरे की सत्यता की पुष्टि में खड़े किये जा सकते हैं। दोनों में अंतर इतना थोड़ा है कि उसे हम स्मृति-दोष कहकर टाल सकते हैं। यह अन्तर जिसका हम यथास्थान उल्लेख करेंगे, न तो अधिक ठहरता है न उतने महत्व का। अतएव हम नानूराम के वंशवृक्ष को एकदम झूठा कहकर हटा नहीं सकते। सूरदास के पूर्व पुरुषों का वृत्त जानने में उससे भी सहायता लेनी पड़ेगी।

दोनों वंशवृक्षों से यह बात स्पष्ट प्रकट है कि सूरदास चन्द के वंशजों में हैं। चंद ब्रह्मभट्ट थे और पृथ्वीराज के दरबार में रहते थे। पृथ्वीराज उनको मित्र; मंत्री, सखा और हितैषी, सब कुछ समझते थे। सूरदास के ब्रह्मराव को अपना मूल पुरुष मानने से भी यही ध्वनित होता है कि वे ब्रह्मभट्ट थे। बन्दीजनों की उत्पत्ति के संबंध में शिवसिंह सेंगर ने अपने सरोज में यह॰ कवित्त उद्धृत किया है—

> प्रथम विधाता ते प्रगट भए बन्दीजन,
> पुनि पृथु यज्ञते प्रकाश सरसात है।
> माने सूत सौनकन सुनत पुरांन रहे
> यश को बखाने महासुख बरसात है।
> चंद चौहान के, केदार गोरी साहजू के,
> गंग अकबर के बखाने गुनगात हैं।
> + काव्य कैसे मास अजनास, धन भाटन को,
> लूटि धरै जाको खुराखोज मिटि जात है।

भाटों के प्रथु यज्ञ से उत्पन्न होने की बात भी बहुत प्रसिद्ध है। भाट लोग अपनी गिनती ब्राह्मणों में करते हैं। स्वयं सूरदास जी ने अपने को विप्र (विप्र पृथु जाग में को) कहा है। सन् १८९१ की संसस की रिपोर्ट (पृ० २९९) में लिखा है कि ब्रह्मभट्टों का आचार-व्यवहार कान्यकुब्ज, गौड़, और सारस्वत ब्राह्मणों से मिलता जुलता है। भाटों में से जो लोग मुसलमान हो गये हैं और जिन्होंने भाटों का पेशा नहीं छोड़ा है उनमें भी भाटों के से आचार-व्यवहार पाये जाते हैं, यह

॰ 'शिवसिंह सरोज,' नवलकिशोर प्रेस, सन् १९२६ पृ० ४०२।

+ 'शिवसिंह सरोज,' के सं० १९३४ के संस्करण में यह छन्द ४०१ पृष्ठ पर है और 'काव्य कैसे मास' के स्थान पर 'काग कैसो मास' पाठ है जो अधिक संगत जान पड़ता है—संपादक।

तो हम अपने अनुभव से जानते हैं। इसी से संभवतः इनके संसर्ग में आने वाले लोग उन्हें सारस्वत ब्राह्मण समझने लगे हों, जैसी कि परंपरागत प्रसिद्धि भी है। परन्तु थे वे वस्तुतः भाट ही। अतएव इसमें कोई संदेह नहीं कि वे चंद के वंशज थे।

सूरदासजी ने कहा है कि चंद को पृथ्वीराज ने ज्वाला देश दिया था। मुन्शी देवीप्रसाद का अनुमान है कि शायद ज्वाला देश पंजाब का ज्वालामुखी प्रांत हो जो अब जिला जालन्धर कहलाता है। यह तो मुसलमान इतिहासकारों ने भी माना है कि पंजाब कुछ समय तक पृथ्वीराज के आधीन था और ब्रह्मभट्ट प्रकाश ग्रन्थ के अनुसार, ब्रह्मराव से उत्पन्न भाटों का ज्वालादेश में रहना पाया जाता है। पृथ्वीराजरासो में भी लिखा है कि चंद के पूर्व पुरुष पंजाब के रहनेवाले थे। लाहौर में उनका जन्म हुआ था। स्वयं चंद समय-समय पर पंजाब जाया करते थे और एक बार वे जालंधरी देवी के मन्दिर में बन्द हो गये थे। हो सकता है कि ज्वालादेश पहले ही से भाटों की भूमि रही हो, यही जानकर अपने अधिकार में आने पर पृथ्वीराज ने उसे अपने भाट-मित्र चंद को दे दिया हो। कोई-कोई उनके पूर्व पुरुषों का मगध से भी आना मानते हैं। यदि यह सत्य भी हो तो भी जो कुछ हम ऊपर कह आये हैं, इससे उसका विरोध नहीं हो सकता। बहुत काल तक मगध ही से भारत के साम्राज्य का शासन होता था। मगध के सम्राटों के यहाँ भाटों का रहना स्वाभाविक ही है। हो सकता है भाटों के मागध कहाने का यही कारण हो। पीछे जब गुप्तों के ह्रास के साथ मगध के साम्राज्य का भी ह्रास हो गया, तब संभव है वहाँ के कुछ भाट नये विभवशाली आश्रयदाताओं की खोज में इधर-उधर निकले हों जिनमें से कुछ पंजाब पहुँचे हों। इन्हीं पंजाब वालों में से, हो सकता है कि चंद के पूर्व पुरुष रहे हों ?*

---

* पृथ्वीराजरासा में चंद के पिता का नाम वेण दिया हुआ है पर रासा में दिये नाम विश्वास योग्य नहीं।

सूरदास जी के पद से पता चलता है कि चंद के चार बेटे थे। नानूराम का वंशवृक्ष भी यही कहता है। सूरदास ने केवल अपने पूर्व पुरुष गुणचंद का नाम दिया है। सब से जेठे के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि चंद ने अपने हाथ से उसे राजा बना दिया था। शेष दो के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा है। नानूराम का वंशवृक्ष भी इन दो के सम्बन्ध में मौन है। सूर को, वह भी चन्द के दूसरे पुत्र के ही वंश में बताता है, परन्तु उसका नाम गुणचंद न बताकर जल्ह बताता है। गुण-चन्द उनके अनुसार सबसे जेठे का नाम है। चंद के पुत्रों में जल्ह ही कवि प्रसिद्ध है। अपने पिता के अधूरे ग्रन्थ पृथ्वीराजरासो को उसी ने पूरा किया था। मालूम होता है कि इसी से प्रसिद्ध कवि सूरदास के पूर्वजों में वही नाम भाट—परम्परा में प्रसिद्ध हो गया। अतएव हम इसे स्मृति-दोष मान सकते हैं। हो सकता है कि जेठे का नाम जल्ह रहा हो जिसे चन्द ने अपने जीते जी ज्वालादेश दे दिया था।

पृथ्वीराजरासो का आज कल जो संदर्भ मिलता है उसकी ऐतिहा-सिकता के विषय में बहुत कुछ झगड़ा चल चुका है। महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा उसमें वर्णित घटनाओं तथा संवतों को शिला-लेखों के आधार पर गलत सिद्ध कर चुके हैं। कम से कम यह तो सभी को मान्य है कि उसका थोड़ा ही सा अंश चंदकृत है। अकबर के राजत्व काल में महाराणा अमरसिंह ने उसके बिखरे हुए छन्दों को एकत्र किया था। बहुत से राजवंशों को अपनी कुल-प्रतिष्ठा बढ़ाने का यह अच्छा मौका मिला। इसीसे, कहते हैं, इसमें अन्धाधुन्ध बाहरी सामग्री आ मिली है, परन्तु चन्द के पुत्रों से सम्बन्ध रखनेवाला अंश, इस प्रकार के प्रक्षिप्तांश की श्रेणी में नहीं आ सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि भाट लोगों ने अपने-अपने वंशों का चन्द के पुत्रों से सम्बन्ध लगाने के लिए कहाँ तक जोड़-तोड़ किया है। हम रासो के "दहतिपुत्र कवि चंद के" वाले कथन को न तो बिलकुल ही गलत कह सकते हैं न बिलकुल

ठीक। हो सकता कि सूर तथा नानूराम दोनों की ही इस सम्बन्ध की जानकारी सदोष अथवा अपूर्ण हो। यह भी हो सकता है कि रासो के पुनर्निर्माण के समय कोई ऐसा छन्द प्रचलित रहा हो जिसमें चन्द के चार लड़कों के नामों के साथ कुछ ऐसे विशेषण जुड़े रहे हों जो गलती से नाम ही समझ लिये गये हों। सूर, सुन्दर, सुजान, जल्ल, बलिभद्र* (बल में बलभद्र के समान) और केहरि संभव है नाम न हों, विशेषण हों। अगर यह अनुमान ठीक है तो चन्द के चार लड़कों के नाम जल्ल, वीरचन्द, अवधूत, और गुणराज या गुणचन्द रहे होंगे। और चाहे जो कुछ हो इस बात में पृथ्वीराजरासो, सूर और नानूराम जी के वंशवृक्ष तीनों एक मत हैं कि गुणराज अथवा गुणचन्द चन्द के पुत्रों में से एक था। जैसा कि हम देख चुके हैं सूरदासजी इसी गुणचन्द की परंपरा में अपने को मानते हैं।

सूरदास के अनुसार चद की दूसरी पीढ़ी में सीलचंद हुए। नानूराम के अनुसार उनका नाम सीताचन्द था। लिपि के दोष से 'ल' क 'ता' और 'ता' का 'ल' पढ़ा जाना असम्भव नहीं। अतएव सीलचद और सीताचंद एक ही हैं। यह चन्द के दूसरे पुत्र के पुत्र थे। इसमें सूरदास और नानूराम दोनों सहमत हैं। इन सीलचन्द का कुछ भी वृत्तान्त ज्ञात नहीं है।

सीलचन्द के पुत्र वीरचन्द के सम्बन्ध में सूर ने कहा है कि वह अद्भुत रूप से प्रतापवान था और रणथम्भौर के कीर्तिशाली राजा हम्मीर के साथ खेला था। इससे पता चलता है कि वीरचन्द हम्मीर का बालसखा रहा होगा। वीरचन्द हम्मीर के बालसखा या मित्र थे अथवा उनके दरबार में रहते थे, इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन इतना ज्ञात है कि एक भाट जिसने हम्मीर के यशोगान में हम्मीररासो और हम्मीर काव्य की रचना की थी, उनका प्रीतिपात्र अवश्य था। परन्तु

---

* पृथ्वीराजरासा, आदि पर्व, पृ० ७ टिप्पणी।

इसका नाम जो परम्परा से मालूम है शारंगधर है, वीरचंद नहीं। हो सकता है शारंगधर और वीरचंद एक ही व्यक्ति के दो नाम हों। यह भी होसकता है कि वीरचंद असली नाम हो और शारंगधर काव्य का। कवियों के उपनाम असली नामों को किस पूर्णता के साथ अपदस्थ कर देते हैं, भूषण इसका अच्छा उदाहरण है। भूषण का असली नाम क्या था, आज यह कोई नहीं जानता। प्रेमचन्द अगर प्राचीनकाल में होते तो धनपतराय नाम को शायद ही कोई जानता। परन्तु वीरचन्द और शारंगधर दो अलग-अलग व्यक्ति भी हो सकते हैं। जो हम्मीर के दरबार में रहे हों। वीरचन्द का समय हर हालत में संवत् १३५७ के आसपास होना चाहिए। इस संवत् में सुलतान अलाउद्दीन के साथ हम्मीर की पहली लड़ाई हुई थी जिसमें हम्मीर ने उसे हराया था। किंतु अलाउद्दीन फिर दूसरे ही साल चढ़ आया। इस दूसरी लड़ाई में यशस्वी हम्मीर ने प्रचंड वीरता के साथ लड़ते हुए स्वर्ग-लाभ किया।

वीरचन्द के बाद वंश-परंपरा में सूर ने हरिचंद का नाम लिया है पर उन्हें पुत्र न कहकर वंश में कहा है—'तासु वंश अनूप भो हरिचंद अति विख्यात'। अतः यह भावना होती है कि वीरचंद और हरिचंद के बीच के कुछ नाम छोड़ दिये गये हैं। आरंभ में ब्रह्मराव से चंद का सम्बन्ध स्थापित करते हुए भी सूर ने इसी प्रकार के वाक्य का प्रयोग किया है—'तासु वंस प्रसंस में भो चंद चारु नवीन'। यहाँ पर स्पष्ट ही इसका अर्थ यह है कि चंद ब्रह्मराव के पुत्र नहीं थे। इसी प्रकार हरिचंद और वीरचंद के संबंध में भी 'तासु वंस' का दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। परन्तु नानूराम हरिचंद को वीरचंद का पुत्र ही मानते हैं। यह सूर के वचनों के बिल्कुल विरुद्ध तो नहीं जाता; क्योंकि पुत्र भी वंशज ही है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह ठीक नहीं जान पड़ता। इस हिसाब से सूरदास के पिता वीरचंद से तीसरी पीढ़ी में पड़ेंगे। सूरदास के पिता रामदास सं० १६१८ में निश्चित रूप से विद्यमान थे। वीरचंद का संवत्

१२४८ के आसपास रहना हम मान ही आये हैं। बीच के २६० वर्षों में तीन ही पीढ़ी हुई होंगी। यह सर्वथा असम्भव है। इस बीच में कम से कम दस पीढ़ियाँ तो अवश्य माननी पड़ेंगी। अतएव यही जान पड़ता है कि वीरचंद और हरिचन्द के बीच कई पीढ़ियों का सूर ने उल्लेख नहीं किया और नानूराम का हरिचंद को वीरचन्द का पुत्र कहना भी सरासर गलत है।

क्यों सूर ने इन बीच की पीढ़ियों का उल्लेख नहीं किया, कोई भी इसका कारण नहीं बतला सकता। आरंभ में चंद को 'तासु वंश' लिखने का कारण था। अपनी वंश-परंपरा को सूर कितना ही पीछे क्यों न ले जाते, पौराणिक व्यक्ति ब्रह्मराव और अन्तिम ऐतिहासिक पुरुष के बीच कुछ न कुछ स्थान खाली रह ही जाता। चंद बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति भी हैं। उनके वंश में उनसे पहिले कोई इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ, इसीलिए सूर ने चंद से अपनी वंश-परंपरा का आरम्भ करना उचित समझा होगा। शायद चंद ही का नाम सूरदास को परम्परा से मिला भी हो, उनसे पहले के और किसी का नहीं। पर इस पिछले 'तासु वंश' कहकर बीच के नाम छोड़ने का कोई कारण नहीं मालूम पड़ता। अधिक से अधिक यही बात हो सकती है कि सूरदास को इन बीच के लोगों के नाम न मालूम रहे हों।

हरिचन्द का भी सूर ने 'अति विख्यात' कहकर नाम लिया है। हरिचंद को किस प्रकार की ख्याति लाभ हुई थी, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भाट बहुधा कवि ही हुआ करते हैं। इसलिए अगर यह समझें कि संभवतः काव्य-रचना के कारण ही उन्हें ख्याति लाभ हुई हो तो अनुचित नहीं। हरिचंद नाम के दो पुराने कवियों का उल्लेख शिवसिंह सेंगर ने अपने सरोज में किया है। एक बरसानेवाले और दूसरे चरखारी वाले। चरखारी वाले हरिश्चन्द वंदीजन थे और वहीं के राजा छत्रसाल के आश्रित थे। वन्दीजन होने से हम अनुमान सकते थे

कि शायद येही सूरदास के दादा हों, परन्तु चरखारी के छत्रसाल बहुत बाद के राजा मालूम देते हैं। बरसाने वाले हरिश्चन्द किस जाति के थे, यह शिवसिंह ने नहीं लिखा है। उनका स्थान बरसाना अलबत्ता इस बात की ओर संकेत करता है कि शायद वे वैष्णव रहे हों। इस बात को लेकर उनका सम्बन्ध रामदास और सूरदास के साथ लगाया जा सकता है। शिवसिंह ने इनकी कविता का जो उदाहरण* दिया है, उसकी रचना भक्त कवि की सी नहीं जान पड़ती। काव्य-शैली इस संबंध में किसी दृढ़ निश्चय पर नहीं पहुँचा सकती। अतएव यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये हरिचंद और सूरदास के दादा हरिचन्द एक ही थे या नहीं।

सूरदास ने अपने पिता का नाम नहीं लिखा है। आईने अकबरी में सूरदास के पिता का नाम रामदास लिखा है। ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जायँगे त्यों-त्यों यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जायगी कि आईने-अकबरी के सूरदास हमारे चरित्रनायक ही हैं। अतएव आईने अकबरी के रामदास सूरदास जी के पिता थे, हमें यह बात पक्की जान पड़ती है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र का अनुमान था कि उनका नाम रामचन्द रहा होगा। जिसे वैष्णवों ने अपनी रीति के अनुसार रामदास कर लिया होगा। नानूराम जी के वंशवृक्ष में उनका नाम स्पष्ट रामचन्द दिया हुआ है। भारतेंदु जी के कथन से तो जान पड़ता है कि जैसे और वैष्णवों ने उनका नाम रामचंद से रामदास कर दिया हो। परंतु वस्तुतः आईनेअकबरी को इस संबंध में और वैष्णवों का साथ देने की जरूरत नहीं थी। यदि

---

* काल कमाल करालन साल विसालन चाल चली है।
हाल विहालन ताल तमाल प्रवाल के बालक लाल लली है।
लोल विलोल कलोल अमोलन लाल कपोल कलोल कली है।
बोलन बोल कपोलन डाल गलोल गलोल रलोल गली है।
—शिवसिंह 'सरोज' स० १६३४ संस्क० पृ० ३७३।

उनका नाम रामचंद्र रहा होगा तो उन्होंने स्वतः ही उसे बदला होगा। इनके नाम के पहले प्रयुक्त होनेवाले शब्द से अगर इनकी धार्मिक प्रवृत्ति का ही बोध हो तो समझना चाहिए कि ये स्वयं भक्त थे। किसी कारण से, शायद पुत्रों की अकाल मृत्यु के कारण, संवत् १६१८ से पहले ही ये विरक्त से रहने लगे थे। शिवसिंह सेंगर ने अपने सरोज में इनका एक पद दिया है जिससे प्रकट होता है कि ये वैष्णव कोटि के भक्त थे। भक्त वैष्णवों के नाम बहुधा दासांत हुआ ही करते हैं। भक्ति-भाव के उदय होने पर इन्होंने अपना नाम रामचंद्र से बदलकर रामदास रख लिया होगा। कम से कम इतना अवश्य है कि यह परिवर्तन इनकी रुचि के अनुकूल हुआ था।

बाबा रामदास प्रसिद्ध गवैया थे। आईने अकबरी में गवैयों की श्रेणी में उनका नाम दूसरे नम्बर पर है। मुल्ला अबुल कादिर ने मुंत-खिबुल तवारीख में लिखा है कि रामदास सलीमशाह सूर के कलावंतों में से था। सूर खानदान के अन्त होने पर बैरम खाँ ने उसे अपने पास रख लिया था।। राग में वह दूसरा तानसेन था। बैराम खाँ चाहे सभा में हो अथवा एकान्त में हमेशा उसे अपने पास रखता था। और उसका गाना सुनकर उसके आँखों से अश्रुधारा बह निकलती थी। मालूम होता है कि संवत् १६१८ में जब बैरम खाँ अकबर से विद्रोह करके बिगड़ खड़ा हुआ था उस समय भी वह उसी के पास था। मुल्ला अबुलकादिर ने इसी प्रसंग में उसका नाम लिया है। उस समय यद्यपि बैरम खाँ का खजाना खाली था फिर भी रामदास का वह इतना ख्याल रखता था कि उस तंगी के मौके पर भी उसने उसे एक लाख टके का रोकड़ और माल दिया था। मालूम होता है कि बैरम खाँ ने यह सब धन रामदास को अकबर से सुलह करके हज्ज के लिए रवाना होने पर दिया होगा। अनु मान से मालूम होता है कि सूरों से भी पहले रामदास, लोदी पठानों के गवैये थे। इस अनुमान की कुछ पुष्टि आगे चलकर हो जायगी।

बैरमखाँ हज के लिए रवाना हुआ था, पर जहाज पर चढ़ने से पहले ही गुजरात में उसकी हत्या हो गई। हो सकता है कि इसी अवसर पर बैरम के प्रधान प्रधान आश्रितों को अकबर ने अपनी सेवा में ले लिया हो। इसी सिलसिले में बाबा रामदास भी अकबरी दरबार के गवैयों में नियुक्त हुए होंगे। मुंशी देवीप्रसाद का अनुमान है कि संवत् १६१६ में उन्हें अकबर ने अपनी नौकरी में ले लिया होगा और संवत् १६२९-३० के लगभग उनका देहान्त हुआ होगा। * जो सर्वथा मान्य है। रामदास बहुत दीर्घजीवी हुए। आगे सं० १५८३ में हमने उनकी अवस्था ४७ वर्ष की मानी है। मृत्यु के समय उनकी अवस्था ९० के लगभग रही होगी।

सूरदास जी ने अपने पिता का पहले आगरे और फिर गोपाचल में रहना कहा है। गोपाचल और गोपाद्रि ग्वालियर के पुराने नाम हैं। पुराने शिलालेखों में ग्वालियर का उल्लेख इन्हीं नामों से हुआ है। आईने अकबरी में भी रामदास को ग्वालेरी ही लिखा है। रामदास का गवैया होना भी उनके ग्वालियर-निवासी होने के अनुकूल है। मालूम होता है कि ग्वालियर उस समय गान-कला का अच्छा केन्द्र था। राजा बीरबल की मजलिस की तारीफ करते हुए अकबर के दरबारी कवि प्रसिद्ध गंग ने कहा था कि ग्वालियर से गीत उठकर वहीं आ गया है।+ इससे स्पष्ट है कि उस समय ग्वालियर संगीत के लिए प्रसिद्ध था। तानसेन भी ग्वालियर निवासी ही थे। वहाँ के तत्कालीन शेख मुहम्मद गौस के संबंध में कहा जाता है कि वे तन्त्र विद्या में

देवीप्रसाद, पृ० ३४, ४५।

ऐसी मजलिस तेरी देखी राजा बीरबर,
गंग कहै गूगी ह्वैके रही है गिरा गरै।
महि रह्यो मागधनि, गीत रह्यो ग्वालियर,
गोरा रह्यो गौरना अगर रह्यो आगरै।

इतने निपुण थे कि विना सीखे ही लोग उनके आशीर्वाद से गायनाचार्य हो जाते थे। कहते हैं उनके तानसेन की जीभ पर जीभ लगा देने से ही तानसेन अद्वितीय गवैया हो गया था। केवल मुंतखिबुल तवारीख के लेखक मुल्ला अबुलकादिर का लेख रामदास के ग्वालियर निवासी होने के कुछ विरुद्ध सा जाता है। उसने रामदास को लखनवी लिखा है। परन्तु असल में यह भी ग्वालियर के विरुद्ध नहीं जाता। मुल्ला का रामदास को लखनवी कहना इतना ही सूचित करता है कि वह सूरों के यहाँ आने से पहले लखनऊ में रहता था। संभव है कि जैसा मुंशी देवीप्रसाद का मत है, बाबर के लोदियों को च्युत कर देने पर, रामदास भी अपने आश्रयदाता पठानों के साथ पूर्व की ओर भागे हों और पूर्वस्थ पठानों की शरण में आये हों और वहीं से सूरों के साथ फिर दिल्ली गये हों। वैसे भी गायनाचार्यों और भक्तों की फिरती वृत्ति होती है। हो सकता है कि घूमते-फिरते ही लखनऊ पहुँच गये हों और कुछ दिन वहाँ रहे हों जिससे मुल्ला ने उन्हें लखनवी समझ लिया हो। सूरदास के कथन से मालूम होता है कि वीरता भी रामदास के गुणों में से एक थी। सूर ने अपने पिता को स्पष्ट शब्दों में वीर लिखा है। बैरम खाँ का उससे जो अगाढ़ प्रेम था, हो सकता है कि उसमें उसकी वीरता का भी हाथ रहा हो। अथवा यह भी हो सकता है कि रामदास ने भी बाबर के विरुद्ध लड़ाई में योग दिया हो, जिससे उनका पूर्व की तरफ भागना और भी संभव हो जाता है?

बाबा रामदास कोरे गवैया ही नहीं थे, कवि भी थे। उन्होंने कृष्ण-सम्बन्धी काव्य-रचना का अपने पुत्र को मार्ग दिखाया था। शिवसिंह सेंगर ने अपने सरोज में उनका नीचे लिखा हुआ पद दिया है।

हमपर यह हि गई वी बाजन।
लै डारे जसुदा के आगे जे तुम कोरे भाजन॥

दुरी बात करि देत प्रगट सब नेकहु भाई लाजन।
रामदास प्रभु दुरे भवन मैं आँगन लागी गाजन ॥ *

अतः हमारा यही निष्कर्ष है कि इन्हीं रामदास के यहाँ + सूरदास का जन्म हुआ था। सूरदास के अनुसार रामदास के कृष्णचंद, उदारचंद, रूपचंद, बुद्धिचंद, देवचंद प्रबोधचंद और सूरजचंद सात लड़के थे। नानूराम के अनुसार छः। नानूराम के वंशवृक्ष में प्रबोधचंद का नाम नहीं है। शेष भाइयों के नामों में भी थोड़ा अंतर है। उसमें कृष्णचंद

---

* 'सरोज', पृ० ३०२।

\+ ये सूरदास, अष्टछापी सूरदास न होकर सूरदास मदनमोहन थे, ऐसा भी कुछ विद्वानों का विचार है और आइने अकबरी मुन्तखिबुत्तारीख आदि ग्रन्थों में इन्हीं सूरदास का उल्लेख है। इस संबंध में डा० दीनदयालु गुप्त का निष्कर्ष विशेष महत्वपूर्ण है और यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

आइने अकबरी, मुन्तखिबउत्तारीख और मुंशियात अबुलफजल के वृत्तान्तों पर विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि तीनों में एक ही सूरदास का उल्लेख है जो ग्वालियर निवासी तथा बाद को लखनऊ में आकर बसनेवाले रामदास का पुत्र है। दोनों बाप-बेटों का अकबर के दरबार से सम्बन्ध था। अबुलफजल के पत्र से ज्ञात होता है कि सूरदास बादशाह का कर्मचारी भी था। उधर अष्टछाप के सूरदास की अकबर बादशाह से एक बार भेंट का उल्लेख ८४ वैष्णवन की वार्ता में भी है। परन्तु उस भेंट के वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि सूरदास संसारिक वैभव से विरक्त, दरबार के प्रलोभन से दूर, एक निर्भीक भक्त है, अकबर के लाख प्रयत्न करने पर भी सूरदास ने अकबर से यही माँगा, 'आज पाछे हमको कबहूँ फेरि मत बुलाइयो और मोंसों कबहूँ मिलियो मति।,' जो व्यक्ति ऐसा त्यागी है वह अकबर

के स्थान पर विष्णुचन्द, उद्धारचंद के स्थान पर उद्धरचंद और बुद्धिचंद के स्थान पर बुद्धचंद हैं। परंपरा से आनेवाले नामों में इस प्रकार का परिवर्तन हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। सूरदास जी ने अपने भाइयों को 'महाभट्ट गंभीर' कहा है। वे छहों शाह के सेवक थे और उसी के लिए लड़ते हुए युद्ध में काम आये। सूरदास को अपने भाइयों के मरने से बड़ा शोक हुआ। अंधा होने से लड़ाई में भाग न ले सकने के कारण शत्रु से बदला न ले सकने का उन्हें बड़ा दुःख था। यह चोट उनके दिल पर बहुत काल तक बनी रही। यहाँ तक कि भगवान् से साक्षात्कार होने पर उन्होंने जो वरदान माँगे थे, उनमें से एक शत्रु-नाश का भी था। किस शत्रु के साथ यह लड़ाई हुई थी, कब हुई थी, ये बातें आगे चलकर स्पष्ट होती जायँगी।

सूरदास का जन्म कब और कहाँ हुआ था, साहित्य लहरी वाले पद में इस विषय पर कुछ नहीं कहा है। परन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है। सूरदास अपने पिता के सातवें पुत्र थे। उनके छहों भाई इतनी बड़ी अवस्था के थे कि युद्ध में भाग ले सकते थे। सूरदास को भी इस बात का दुःख था कि मैं युद्ध में भाग न ले सका। इसी से वे अपने को मंद और

का राजकर्मचारी और दरबारी क्यों होगा ; लेखक का अनुमान है कि ऊपर का वृत्तान्त भक्तमाल के छप्पय नं० १२६ में दिये हुए अकबर के राजकर्मचारी लखनऊ के पास स्थित संडीले स्थान में अमीन, भगवदीय मदनमोहन सूरदास से संबंध रखता है।,'

"इस विवेचन का निष्कर्ष यही है कि आईने अकबरी, मुन्तखिब-उत्तवारीख और मुंशियातअबुलफज़ल में अष्टछाप के भक्तवर सूरदास का कोई वृत्तान्त नहीं दिया है।"

देखिये 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय', भाग १, पृ० १६२

—सम्पादक

निकम्मा (मंद निकाम) समझते थे। उनके युद्ध में भाग न ले सकने का कारण उनकी कम उम्र नहीं थी, बल्कि उनका अंधापन था—'रहे सूरज-चंद दृग तें हीन भरवर शोक।' इससे मालूम होता है कि अगर वे अंधे न होते तो युद्ध में भाग ले सकते। अगर यह भी समझें कि क्रोध के आवेश में कुछ छोटी अवस्थावाला भी बदला लेने के लिए लड़ने का इच्छुक हो सकता है, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि बिल्कुल ही बालक के मन में यह भाव नहीं उठ सकता। अतएव कृष्ण के मुँह से उनके ('कही शिशु सुन माँगुवर जो चाह') अपने को 'शिशु' कहलाने से वे निरे शिशु नहीं ठहर सकते। परमात्मा सबका पिता है। वह चाहे जितने बूढ़े को भी शिशु कह सकता है। अपने को परमात्मा का 'बालकसुत' समझने में भक्तों को कुछ आश्वासन भी मिलता है, इसी में उसे अपनी सामर्थ्य दिखाई देती है। इसी से तुलसीदासजी ने रामचंद्र से कहलाया है—

मेरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी।
भजहि जु मोहि तजि सकल भरोसा।
करों सदा तिनके रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी।

यहाँ पर कृष्ण का 'शिशु' भी कुछ इसी बात का द्योतक है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर अगर हम मानें कि सूरदास इस समय जवानी में कदम रख चुके थे तो अनुचित न होगा। इस समय इनकी अवस्था २० के लगभग रही होगी।

अब यदि हमें इस लड़ाई का जिसमें उनके भाई काम आये थे, ठीक-ठीक समय मालूम हो जाय तो हम उनके जन्म के लगभग संवत् का भी अनुमान लगा सकेंगे। हम देख चुके हैं कि रामदास इस्लाम-शाह के कलावंतों में से थे। इससे पहला ख्याल यही होता है कि इन्हीं की नौकरी में इनके लड़के भी रहे होंगे। अगर यह बात हो तो यह लड़ाई संवत् १६१२ की होनी चाहिए जब हुमायूँ ने फिर से सूरों से दिल्ली का राज छीना। परन्तु यह असंभव है, क्योंकि सूरदास जी का

इससे पहले ही वल्लभाचार्य जी का चेला होना चौरासी की वार्ता से पाया जाता है। संवत् १५८७ में वल्लभाचार्य जी की का गोलोकवास हो चुका था। जिस समय सूरदास जी ने गऊ घाट पर वल्लभाचार्य जी की शिष्यता स्वीकार की, उस समय तक ये काफी प्रसिद्धि पा चुके थे; बहुत से लोग उनके सेवक हो गये थे। इससे स्पष्ट है कि सूरदास १५८७ से पहले ही विरक्त हो गये होंगे। उनकी विरक्ति का विशेष कारण लड़ाई में उनके सब भाइयों का एक साथ मारा जाना ही हो सकता है। यह लड़ाई हुमायूँ और सिकंदरशाह के बीच थी। संवत् १६१२ की लड़ाई नहीं हो सकती, १५८७ से पहले की कोई दूसरी लड़ाई होगी। संवत् १५८७ से पहले का सबसे प्रसिद्ध युद्ध पानीपत का पहला युद्ध है जो संवत् १५८३ में हुआ था और जिसमें बाबर ने इब्राहीम लोदी पर विजय पाकर (लोदी) पठान वंश का अंत और मुगल बादशाहत की भारत में स्थापना की थी। हो सकता है कि बाबा रामदास के छः लड़के इसी युद्ध में काम आये हों। अनुमान यह होता है कि सूरवंश के प्रतिष्ठित होने के पहले रामदास और उनके छः लड़के लोदियों की नौकरी में थे। यदि इस समय सूरदास की आयु २० वर्ष की रही हो जैसा कि हम मान चुके हैं तो लगभग संवत् १५६३ में उनका जन्म हुआ होगा।

सूरदास के जन्म के समय उनके पिता की अवस्था २७ वर्ष की रही होगी। संवत् १५८३ में रामदास के सात लड़के विद्यमान थे। एक के बाद दूसरे भाई की उम्र में कम से कम अंतर एक वर्ष का हो सकता है। अगर रामदास के लड़कों में भी यही अन्तर मानें—इससे अधिक अंतर मानने से रामदास की इतनी बड़ी आयु हो जाती है जो गप-गीता में ही संभव है—तो उस समय सबसे बड़े की अवस्था २७ वर्ष की रही होगी। और अगर बीस वर्ष की अवस्था में पहले लड़के का जन्म मानें तो संवत् १५८३ में रामदास की अवस्था सैंतालीस की रही होगी। इसमें से सूरदास की उम्र के २० वर्ष निकाल देने से संवत् १५६३ में

जिस समय रामदास की सत्ताईस वर्ष की अवस्था थी सूरदास का जन्म हुआ होगा। मालूम होता है कि सूरदास की माता उनके जन्म के बाद बहुत दिन तक जीवित नहीं रहीं।

सूरदास का जन्म कब हुआ, इसका तो उत्तर हो चुका। अब कहाँ का उत्तर ढूँढ़ना चाहिए। अपने पिता का आगरे और बाद को गोपाचल में रहना सूरदास ने स्वयं कहा है। हम जानते हैं कि रामदास और स्थानों में भी रहे हैं, परन्तु सूरदास ने उनका जिक्र नहीं किया। इससे पता चलता है कि रामदास ने गोपाचल में कुछ जायदाद जोड़ ली थी, जिससे चाहे कहीं भी रहने पर गोपाचल ही उनका वास्तविक स्थान समझा जाता था। अधिक संभव यही है कि गोपाचल ही में सूरदास और उनके भाइयों का जन्म हुआ हो। चौरासी वैष्णवों की वार्ता की टीका में इनका जन्मस्थान दिल्ली के पास का कोई सीही गाँव बतलाया गया है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। दिल्ली के नजदीक सीही नाम का कोई गाँव नहीं है। कुछ लोग रुनकता को उनका जन्मस्थान मानते हैं, परन्तु इनका भी कोई प्रमाण नहीं है। अतएव गोपाचल को ही उनका जन्मस्थान मानना अधिक युक्तियुक्त है। बाबू राधाकृष्णदास गोपाचल को ब्रज में ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु जैसा पीछे बतलाया जा चुका है यह गोपाचल ग्वालियर के अतिरिक्त कोई दूसरा स्थान नहीं।

अनुमान से मालूम पड़ता है कि छोटी अवस्था में गोपाचल में सूरदास ने अपने पिता से गान-विद्या सीखी थी। जब रामदास शाही दरबार में गये तो और पुत्रों को भी उन्होंने शाह की नौकरी में लगा लिया परन्तु सूरदास को अंधा होने के कारण घर ही छोड़ गये होंगे।

सूरदास के अन्धे होने में कोई संदेह नहीं। इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है। उनके अंधे होने के कारण ही, आजकल सब अंधे सूर कहलाते हैं। परन्तु प्रश्न यह उठता है क क्या वे जन्मांध थे अथवा बाद को अन्धे हुए? बहुत से लोगों का मत है कि जिस प्रकार उन्होंने

रंग तथा अन्य दृश्य पदार्थों का वर्णन किया है, उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि इन चीजों को उन्होंने स्वयं नहीं देखा था। जिन्होंने उन चीजों को अपनी आँखों से न देखा हो; वे ऐसा सुंदर और यथातथ्य वर्णन कर नहीं सकते। अतएव अवश्य ही वे जन्मांध नहीं थे।

सृष्टि में बहुत से जीव ऐसे हैं जिनकी एक इंद्रिय से दो विषय पूर्ण होते हैं। मछली एक ही इंद्रिय से देखती तथा सुनता है। आदमी की जब एक इंद्रिय व्यर्थ हो जाती है तो दूसरी इंद्रियाँ अधिक सचेष्ट हो जाती हैं। और व्यर्थ हुई इंद्रिय का बहुत कुछ काम उनके द्वारा होने लगता है। अंधों को प्रज्ञाचक्षु व्यर्थ ही नहीं कहते। यह भी आवश्यक नहीं है कि सूर के वर्णनों से जो चित्र हमारी अनुभूति में आते हैं ठीक वही सूर की अनुभूति की आँखों में भी आते रहे होंगे। शब्दों की माया विचित्र है। उनके एक ही वस्तु के द्योतक होने पर भी भिन्न-भिन्न मनुष्यों के हृदयों में उस एक वस्तु के द्योतक शब्द से भिन्न-भिन्न भावों का उदय होता है। 'गाय' शब्द को सुनकर, एक अहीर, एक कृषक तथा एक दूध पीनेवाले रईस के हृदय में अलग-अलग भावों का उदय होता है, यद्यपि सब उससे पाते जंतु-विशेष का ही संकेत हैं। फिर यह भी बात नहीं कि किसी वस्तु के विषय में कोई भावना बनाने के लिए उसको देखना आवश्यक ही हो। काल्पनिक भावना भी मनुष्य बना सकता है। इस भावना के हमारे अनुसार गलत होने से स्थिति में कोई अंतर नहीं आता। और यह भी बात नहीं कि आँखों देखकर जो भावना किसी वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मत में होती है, वह सही हो। सूर ने परंपरा से वस्तुओं का वर्णन सुना उनको बिना देखे ही उनके सम्बन्ध में उनके हृदय में कोई भावना विशेष उदित हुई। अब चाहे तथ्य से वह भावना कितनी ही दूर क्यों न हो, किन्तु सूर को मस्त रखने के लिए वही काफी है। ऐसी भावनाओं से प्रेरित होकर जब सूर स्वयं वर्णन करने बैठते हैं तो हमारे झूम उठने में कोई बाधा नहीं

पढ़नी, क्योंकि हम उनके शब्दों से वही अर्थ ग्रहण करते हैं जो उनसे सामान्यतः लिया जाता है। और तथ्य से उनकी वास्तविक भावना में जो अंतर होता है, वह हमारे दृष्टि-पथ में नहीं आता। परंपरा के सुंदर पालन और उनकी प्रशाचक्षुता के लिए हमें कृतज्ञ होना है। अतएव सूर के जन्म से ही सूर होने के विरुद्ध जो प्रमाण दिया जाता है, उसके ठहरने को कोई आधार नहीं। अधिक संभव यही जान पड़ता है कि वे जन्मांध थे।

वैराग्य

अपनी जीवन की पहली घटना जिसका सूर ने उल्लेख किया है, वह उनका कुएँ में गिरना है। मुं० देवीप्रसाद का अनुमान है कि यह घटना उस बादशाह गर्दी की होगी जिसमें उनके छहों भाई मारे गये थे। युद्ध के बाद हर जगह गड़बड़ और भगदड़ मची होगी। ऐसे ही अवसर पर अंधे सूरदास भी भागने का प्रयत्न करते हुए कुएँ में गिर पड़े होंगे। सूरदास जी स्वयं कहते हैं कि कुएँ में से उनके रोने-चिल्लाने की आवाज किसी ने नहीं सुनी। सातवें दिन कृष्ण ने स्वयं ही आकर उनका उद्धार किया। मालूम होता है कि कुआँ भी अंधा था; अगर उसमें पानी रहा भी हो तो बहुत कम, नहीं तो छः रात-दिन तक कुएँ में पड़े रहने पर उनके प्राण बचे न रह सकते थे। किसी का छः दिन तक उनके रोने-चिल्लाने की आवाज को न सुनना, इस बात को सूचना देता है कि कुआँ बेकाम था और लोगों का उधर आना-जाना कम होता था। यह भी हो सकता है कि लोग उस भगदड़ में अपनी ही रक्षा में इतने

व्यस्त थे कि दूसरों के रोने-चिल्लाने की ओर किसी का ध्यान जा ही नहीं सकता था। भाइयों की मृत्यु के शोक और अपनी अत्यंत असहाया-वस्था ने उन्हें अनन्य भाव से परमात्मा का आश्रय लेने के लिए बाध्य किया। उनकी हार्दिक प्रार्थना व्यर्थ नहीं गई। श्रीकृष्ण ने सूर को केवल कुएँ से बाहर ही नहीं निकाल दिया, उनकी आँखें भी खोल दीं और इच्छानुसार वर माँगने को भी कहा। सूरदास ने तीन वर माँगे। एक तो यह कि शत्रु का नाश हो जाय, दूसरा यह कि मुझे आपकी भक्ति मिले, और तीसरा यह कि जिन आँखों से आपके दर्शन किये हैं उनसे और किसी का रूप न देखूँ। भगवान् ने एवमस्तु कहा और आश्वासन दिया कि दक्षिण के ब्राह्मण कुल से तुम्हारे शत्रु का नाश होगा। तू संपूर्ण विद्याओं का घर होगा। मेरा नाम उन्होंने सूरदास और सूरश्याम रखा और रात के आखिरी पहर में अंतर्धान हो गये।

सूरदासजी का कृष्ण के द्वारा उद्धार होना लोक में प्रसिद्ध है। कहते हैं कि जब कृष्ण ने सूर का हाथ पकड़कर उन्हें कुएँ से बाहर निकाला तो उनके कर के कोमल स्पर्श से ही वे जान गये कि भगवान् के द्वारा उनका उद्धार हो रहा है। इसलिए सूर ने बलपूर्वक उनका हाथ पकड़ लिया। जब भगवान् अपना हाथ छुड़ाकर जाने लगे तो सूरदास ने कहा—

कर छुटकाए जात हो, निबल जानि कर मोहि।
हिरदय सो जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि॥

इसपर भगवान् ने प्रसन्न होकर उनकी आँखें खोल दीं, जिससे उनको दर्शन प्राप्त हुआ। भगवान् के दर्शन पाने का उल्लेख सूर ने अपनी सूर सारावली में भी किया है—

"दर्शन दियो कृपा करि मोहन, वेग दियो वरदान॥"

कहना न होगा कि ये शत्रु जिनके विनाश का सूर ने कृष्ण से वरदान माँगा था मुगल ही थे। जैसा हम ऊपर दिखला चुके हैं बाबर

के मुगलों से ही लड़कर सूरदास के भाई मरे थे। कृष्ण की भविष्य-वाणी आगे चलकर पूरी हुई थी। दक्षिण के ब्राह्मण पेशवाओं ने सचमुच मुगलों की शक्ति का ध्वंस कर दिया। बा० राधाकृष्णदास ने इसपर शंका की है कि बाबा रामदास तो अकबरी दरबार में नौकर थे, मुग़ल उनके दुश्मन कैसे हो सकते हैं? इसका समाधान यही है कि जिस समय की यह घटना है उस समय तक न तो बाबा रामदास या सूरदास अकबरी दरबार में नौकर ही थे और न इस बात का ख्याल हो रहा होगा कि आगे चलकर ऐसा भी होगा। उस समय तो उनके आश्रय-दाता पठानों के शत्रु होने के कारण मुगल उनके भी शत्रु थे।

जिन शत्रुओं के कारण उनका आश्रयस्थान नष्ट हो गया, उनके भाइयों की मृत्यु हुई, स्वयं उनको इतनी यातना सहनी पड़ी, उनके नाश की कामना करना, जैसा सूरदास ने स्वयं कहा है, स्वाभाविक ('सुभाइ') ही है। परन्तु साधारण आदमी की समझ में यह जरा कठिनता से आता है कि उन्होंने आँखों से वंचित होना क्यों चाहा! भगवान् ने अत्यन्त दयालु होकर जिस नियामत को उन्हें बख़्शा था उसे यों धकेल देना कुछ बुद्धिमानी का काम नहीं जान पड़ता। एकाएक अपनी आँखों के सामने इस विस्तृत जगत के दृश्यों को जिन्हें उन्होंने कभी नहीं देखा था. देखकर वे घबड़ा तो नहीं गये थे? परन्तु सूरदास जी की नाप-जोख हमें साधारण पैमाने से नहीं करनी चाहिए। उनकी विरक्ति पूर्णता को पहुँच चुकी थी, वे परमात्मा का दर्शन कर चुके थे। कृष्ण की जिस मंजुल मूर्ति के उन्होंने दर्शन किये थे वही उनके हृद्धाम में बसी रहे, उसके अतिरिक्त और कोई रूप वहाँ प्रवेश न पा सके, यही सोचकर सूरदास ने आँखों का बहिष्कार किया होगा। जब रास्ता ही बन्द हो जायगा तब कोई आवेगा कैसे? इस घटना पर किसी कवि ने क्या ही सुन्दर और अनूठी उक्ति की है—

तन समुद्र सम सूर को, सीप भये नग नान ।
हरि मुक्ताहल परत ही, मूँदि गए ततकान ॥ *

इस सारी घटना को हम आध्यात्मिक अर्थ में भी ले सकते हैं । यह संसार कूपवत् है जिसका ज्ञान सूरदास को गहन विपत्ति पड़ने पर ही मालूम हुआ । यही उनका कुएँ में पड़ना है । कृष्ण की शरण में जाकर उन्हें इस संसारिक विपत्ति से छुटकारा मिला । कृष्ण के प्रेम ने सांसारिक दुःख के लिए स्थान ही न रहने दिया । यह कृष्ण का उन्हें कुएँ से निकालना हुआ । कृष्ण ने उनके ज्ञान-नेत्र खोल दिये । ज्ञान-नेत्रों से ही परमात्मा के परमार्थरूप में दर्शन हो सकते हैं । वे ऐसी आँखे हैं जिनसे परमात्मा का ही रूप दिखाई देता है, और किसी का नहीं । इसपर भी सूरदार का यह वर माँगना कि जिन आँखों से राधाश्याम के दर्शन किये हैं उनसे और किसी का रूप न देखूँ, निरर्थक नहीं है । इससे उनकी तल्लीनता झलकती है । और जैसा भारतेंदु जी ने लिखा है वे शत्रु जिनका सूरदास नाश चाहते थे, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये षड्रिपु हैं जिनका दक्षिण के प्रबल ब्राह्मण वल्लभाचार्य ने आगे चलकर नाश किया ।

निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि इस घटना को किस अर्थ में लेना ठीक है । भारतेंदु जी ने शत्रु-संबंध में दोनों अर्थ लिये हैं और बाबू राधाकृष्ण दास ने वहाँ पर केवल अलौकिक अर्थ ही को ठीक माना है । परन्तु अगर अलौकिक अर्थ में हों तो सारी घटना को लेना चाहिए । और मैं समझता हूँ कि सूर का सगुणवादी भक्त होना अलौकिक पक्ष के आधार को कमजोर कर देता है । सगुणवादी भक्त भगवान् के दर्शन चर्म-चक्षुओं से ही करना चाहता है । अतएव लौकिक पक्ष ही ठीक जान पड़ता है ।

---

* शिवसिंह सेंगर इस दोहे को सूर का ही बताते हैं—
सरोज, पृ० ३२० ।

अगर यह वास्तविक घटना हो तो कहाँ घटी ? इस बात का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। सूरदास ने युद्ध में तो भाग लिया नहीं था। इसलिए वे पानीपत की तरफ तो रहे नहीं होंगे। हो सकता है कि ग्वालियर और आगरे के बीच की यह घटना हो।

दीक्षा

इस घटना के बाद जान पड़ता है कि, सूरदास गऊघाट पर आकर रहने लगे। गऊघाट आगरा और मथुरा के बीचोबीच है। वहाँ उनका माहात्म्य बहुत जल्दी फैलने लगा। उनके भगवद्दर्शन की कथा भी लोगों में फैली होगी। उनकी लगन को स्वयं भी देखने का अवसर मिला होगा। इससे लोगों के हृदय में उनके प्रति भक्तिभाव खूब उमड़ा होगा। उनकी गान-निपुणता का भी उनकी प्रसिद्धि में काफी भाग रहा होगा। जन्मजात विरूपता जिनमें होती है, उनमें जनसाधारण परमात्मा का कुछ विशेषांश देखते ही हैं। इस प्रकार लोग बड़ी शीघ्रता से उनके चेले होने लगे। कुछ समय पीछे जब वल्लभाचार्य जी गऊघाट आये उस समय बहुत से लोग सूरदासजी के सेवक हो गये थे; इस बात का उल्लेख चौरासी वैष्णवों की वार्ता में है।

श्री वल्लभाचार्यजी दक्षिणी ब्राह्मण थे। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का जो आन्दोलन देश भर में उमड़कर बहा था, उसके प्रधान प्रसारकों में वल्लभाचार्य जी भी एक थे। इनका जन्म सं० १५३५ वैशाख कृष्णा ११ को और गोलोकवास संवत् १५८७ आषाढ़ शुक्ल ३ को हुआ। ये बड़े दिग्गज पण्डित थे, वेद-शास्त्र का ज्ञान इनका अगाध था। दर्शन पक्ष में इन्होंने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त चलाया और उप

सना पद्य में पुष्टिवाद। अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए इन्होंने वेदांत सूत्र पर अपना अलग भाष्य रचा था।* दक्षिण से दिग्विजय करते हुए वल्लभाचार्य जी उत्तर में आये और प्रयाग के पास अडेल गाँव में बस गये। फिर ब्रज में आकर श्रीनाथजी के मन्दिर की स्थापना की और अपने मत का प्रचार किया। बीच-बीच में आप अडेल चले जाया करते थे। उनके बड़े पुत्र गोस्वामी गोपीनाथ जी का जन्म वहीं हुआ था। अडेल से ब्रज को जाते हुए ही एक समय वे गऊघाट में ठहरे थे। जिसका हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं। सूरदासजी उस समय यहीं रहते थे। वे वल्लभाचार्य जी का यश सुन चुके थे। जब उन्होंने सुना कि वल्लभाचार्य जी आये हैं तो उन्हें भी उनका सत्संग करने की इच्छा हुई। इसलिए मिलने का ठीक समय निश्चित करने के लिए उन्होंने अपना सेवक वल्लभाचार्यजी के स्थान पर भेजा। जिस समय वह वहाँ पहुँचा उस समय वे भोजन बना रहे थे। सेवक ने पहले ही से उसे समझा रखा था। वह कुछ दूर पर जाकर बैठ रहा। पाक सिद्ध होने पर जब महाप्रभु ने ठाकुर जी को भोग लगाकर अनोसरि करके महाप्रसाद पाया और गद्दी पर आसन ग्रहण किया तथा जब उनका भक्त-समाज जुड़ गया तो खबर पाकर सूरदास जी भी दर्शनों के लिए पहुँचे। वल्लभाचार्यजीने उन्हें बिठलाया और भगवद्यश वर्णन करने को कहा। सूरदास जी ने यह पद गाया—

हौं हरि सब पतितन को नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी इतने मन कों लायक
जो तुम अजामेलि सों कीनी जो पाती लिखि पाऊँ
हाथ विश्वास भलो जिय अपने औरै पतित बुलाऊँ

---

* वेदांतसूत्र पर वल्लभाचार्य-द्वारा रचा गया भाष्य 'अणुभाष्य' है जिसमें शुद्धाद्वैत का दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है—संपादक।

गाना सुनकर वल्लभाचार्य जी ने कहा सूर, सूर होकर क्यों इतना घिघियाते हो ? भगवान् की लीला का वर्णन करो, गिड़गिड़ाने की ज़रूरत ही न रह जायगी । सूरदास जी ने जवाब दिया, महाराज, मुझे तो कुछ आता ही नहीं है । तब वल्लभाचार्य जी ने कहा, अच्छा स्नान करके आओ, हम तुम्हें बतायेंगे । जब सूरदास स्नान करके आये तो वल्लभाचार्य जी ने उन्हें भगनाम का श्रवण कराया । फिर समर्पण की विधि हुई जिसमें सूरदास जी ने गुरु की सेवा में अपने आप को अर्पण किया । तदुपरांत वल्लभाचार्य जी ने अपनी रची भागवत की टीका के दसवें स्कंध की अनुक्रमणिका पढ़ी जिसमें भगवल्लीला की ओर संकेत है । उसका पहला श्लोक इस प्रकार है—

नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धि शायिनम् ।
लक्ष्मी सहस्र लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम् ॥

इस प्रकार सूरदासजी वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुए। चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार इससे उनके सब दोष दूर हो गये, उन्हें नवधा भक्ति सिद्ध हो गई, उनके हृदय में भगवान् की संपूर्ण लीला का स्मरण हो गया उन्होंने तत्क्षण यह पद बनाकर रागविलावल में गाया—

चकईरी चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग।
निसिदिन राम राम की भक्ति भयरुज नहिं दुख सोग॥
जहाँ सनक से मीन, हंस शिव, मुनि जन नख रवि प्रभाप्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससिडर गुंजत निगम सुवास॥
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल अमृत रसपीजे।
सो सर छाँडि कुबुद्धि विहंगम इहाँ कहा रहि कीजे॥
लछमी सहित होत नित क्रीड़ा सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषयरस छीलर वा समुद्र की आस॥

इसी से वल्लभाचार्य जी को मालूम हो गया कि सूरदास के बोध हुआ और लीला का अभ्यास भी हो रहा है। फिर सूरदास ने नंद महोत्सव का वर्णन करते हुए राग देव गंगाधर में यह पद ❀ गाया—

ब्रज भयो महरि के पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनंदे सब लोग, गोकुल गनक गुनी॥
अति पूरन पूरे पुन्य, रोपी सुथिर थुनी।
ग्रह-लगन-नषत-पल सोधि, कीन्हीं वेद-धुनी॥
सुनि धाईं सब ब्रजनारि सहज सिंगार किये।
तन पहिरे नूतन चीर काजर नैन दिये॥
... ...

इस पद को सुनकर वल्लभाचार्यजी बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे 'सूरदास तुमने ऐसा सुंदर और यथातथ्य वर्णन किया है, मानो तुम वहाँ

❀ देखिये 'सूरसागर' नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००५, पृ० [illegible]।

थे, मानो तुमने इस उत्सव को स्वयं अपनी आँखों से देखा हो'। तदनंतर महाप्रभु ने जब सूर को पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनाया तो संपूर्ण महाभारत की कथा का उनके हृदय में स्फुरण होने लगा। फिर तो सूरदासजी ने कई पद गाये। आगे चलकर सूरदास ने प्रथम स्कंध से लेकर द्वादश स्कंध तक की संपूर्ण लीला रागों में कही।

इस प्रकार सूरदास जी स्वयं वल्लभाचार्य जी के हाथ से वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हुए। अपने सब सेवकों को भी उन्होंने वल्लभजी से भगवन्नाम की दीक्षा दिलाई। दो दिन तक गऊ घाट पर रहकर जब वल्लभजी ब्रज को जाने लगे तो सूरदासजी भी उनके साथ हो लिये।*

परंतु कृष्णगढ़ के महाराज भक्तवर नागरीदास जी ने अपनी 'पद-प्रसंगमाला' में सूरदास जी का गोसाईं विट्ठलनाथजी की प्रेरणा से पद रचना करना लिखा है। इस ग्रंथ में अनेक महात्माओं के पदों के प्रसंग वर्णित हैं। सूरदास के पदों के प्रसंग में नागरीदासजी लिखते हैं "दोऊ नेत्र करि हीन एक ब्रजवासी को लरिका ब्रज में सूरदास। सो होरी के भड़ौआ बनावै है तुकिया। ताके वास्ते श्री गुसाईं जू सों जाइ लोगन ने कही। तापर गुसाईं जू वा लरिका को बुलाय वाके भँडउवा सुने, श्रीमुख तें कह्यो, जु लरिका तू भगवत जस बखान। श्री भागवत के अनुसार प्रथम जनम ही की लीला गाय"। परंतु स्वयं गुसाईं जी अपने आपको वल्लभाचार्य जी का शिष्य कहते हैं। परंपरा से भी यही बात चली आ रही है। यदि सूरदास जी वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे तो यह असंभव है कि वल्लभाचार्य जी ने ही उन्हें भगवद्यश गाने की प्रेरणा न की हो। सूरसारावली में स्वयं सूरदास जी कहते हैं कि वल्लभाचार्य जी ने उन्हें तत्त्व सुनाकर लीला का भेद बताया—

श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो, लीलाभेद बतायो ॥ ११०२ ॥

---

* चौरासी वैष्णवन की वार्ता, सूरदास की वार्ता, पहला प्रसंग।

और नागरीदास जी के लेख से तो ऐसा जान पड़ता है मानो गोसाईं जी सूर से पहले परिचित ही न थे। यह भी अघटनीय है। हाँ, अगर वल्लभाचार्य जी के लिए 'गोसाईं जी' गलती से लिखा गया हो तो समयानुक्रम से यह घटना असंभव नहीं। परंतु वार्ता के विरोध में इस लेख को महत्व नहीं दिया जा सकता। इसमें दो तुकिया भडौश्रों का उल्लेख भी कुछ इसकी तथ्यता के विरुद्ध जाता है। दुतुकिया भडौओं के उदाहरण बा० राधाकृष्ण ने ये दिये हैं—

"खिसली तेहि देखि अटातें।
तू जु कहे हो तोहिं अधवर लूंगो, अब मेरी टूटी है बाँह बरातें॥
"कब निकसैगो सूक चलै चालो।
गोरी ने डोला सजवायो रसिया ने सिकल करचो झालो॥

बा० राधाकृष्णदास ने सूर का खूब अध्ययन किया था। इस संबंध में उनसे अगर बढ़ सके हों तो शायद 'रत्नाकर' जी ही और कोई नहीं।* परंतु उनको सूरसागर में दुतुकिया भड़ौए मिले नहीं। शायद 'सूरसारावली' ने इस गढ़ंत को जन्म दिया हो। इस ग्रंथ को सूरदास जी ने होली के रूपक से ही आरंभ तथा अंत किया है।

सूरदास के वल्लभसंप्रदाय में दीक्षित होने का ठीक-ठीक समय तो मालूम नहीं है, परंतु अनुमान से इस घटना को संवत् १५८२ ×

---

* अब तो सूरदास पर बहुत विस्तृत अध्ययन हो चूके हैं, इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय ग्रंथ है, 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' (डॉ० गुप्त) सूरदास (डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा), सूरसौरभ (पं० मुंशीराम शर्मा), सूरसाहित्य की भूमिका (डॉ० रामरतन भटनागर), तथा सूरदास (डॉ० जनार्दन मिश्र)। —संपादक।

× डॉ० गुप्त के अनुसार सूरदासजी लगभग सं० १५६६ में वल्लभाचार्य जी की शरण आये थे, जब सूरदास की आयु लगभग ३१ वर्ष की थी। 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय १, पृ० २१३ —संपादक।

और १५८७ के बीच में किसी समय होना चाहिए। सं० १५८३ में पानीपत की लड़ाई हुई थी जिसमें सूर के सब भाई मारे गये थे और संवत् १५८७ में वल्लभाचार्य जी का वैकुंठवास हुआ था। वल्लभजी से सत्संग होते ही सूर का उनका शिष्य हो जाना, इस बात का सूचक है कि गुरुआई का स्वाद चखते सूरदास को अभी बहुत दिन नहीं हुए थे, नहीं तो वे इस तत्परता के साथ उनके चेले न बनते। अतएव सूर का दीक्षाकाल हम संवत् १५८४ मानें तो कुछ अनुचित न होगा। एक ही साल में सूर के इतने चेले कैसे हो गये? सूर के संबंध में यह प्रश्न न उठना चाहिए। उनकी शीघ्र प्रसिद्धि के कारण हम ऊपर दिखा चुके हैं।

ब्रज में आकर सूर ने गोकुल को दंडवत करके गोकुल में कृष्ण की बाललीला के पद कहे। वल्लभाचार्य जी ने उन्हें श्रीनाथजी के दर्शन कराये। 'वार्ता' के अनुसार श्रीनाथजी की सेवा का और तो सब प्रबंध ठीक था, केवल कीर्तन की सेवा का प्रबंध न था। सूरदास को इसके सबसे अधिक योग्य देखकर उन्होंने उन्हें यह काम सौंपा। वे नित्यप्रति लीला के नये-नये पद बनाकर गाने लगे जिनका आगे चलकर सूरसागर में संग्रह हुआ सूरदास के कीर्तन की सेवा स्वीकार करने के पहले भी शायद कीर्तन का प्रबंध कुछ न कुछ रहा हो। परंतु कोई व्यक्ति विशेष नियमित रूप से उसके लिए नियुक्त नहीं था। चौरासी की वार्त्ता से मालूम होता है कि पहले यह काम कुंभनदास जी किया करते थे; परंतु स्वेच्छा से और वह भी नियमित रूप से नहीं। यह उस समय की बात है जब वल्लभाचार्य जी ने संवत् १५४६ में गोवर्धन की गुफा से श्री गोवर्धननाथजी को प्रकट किया और एक छोटे से मंदिर में रक्खा। परंतु कुंभनदास जी की विशेष रूप से इस काम के लिए नियुक्ति नहीं हुई थी। उस समय इतने विस्तार का न अवसर था और न आवश्यकता। जिस मंदिर में आचार्यजी ने सेवा का मंडन किया उसे सेठ

पूर्णमल खत्री ने सं० १५५६ में बनवाना आरंभ किया था और सं० १५७६ में उसका निर्माण-कार्य पूरा हुआ। बा० राधाकृष्णदासजी प्रथम स्वल्प सेवामंडान और द्वितीय विस्तृत सेवा मंडान को एक ही में गड़बड़ाकर सूरदास जी की वार्तावाले इस कथन को कि तब "श्री महाप्रभू जी अपने मन में विचारे जो श्रीनाथ जी के यहाँ और तो सब सेवा कौ मंडान भयौ और कीर्तन को मंडान नाहीं कियो है ताते अब सूरदास जी को दीजिये" असत्य ठहराया है। परंतु यह वस्तुतः असत्य नहीं है। हो सकता है कि कुंभनदास जी नये मंदिर में भी अनियमित रूप से कीर्तन का कार्य करते रहे हों, परंतु वे कीर्तन के लिए नियमित रूप से नियुक्त न थे।

सूरदास जी की अनुपस्थिति में यह काम परमानंद स्वामी करते रहे होंगे। वल्लभसंप्रदाय में प्रवेश करने के पहले भी परमानंद स्वामी का कीर्तन बहुत प्रसिद्ध था। 'व्यास' स्वामी ने लीला गान के लिए सूरदास का नाम न लेकर परमानंद स्वामी का स्मरण किया और सूरदास का केवल पद कर्ता के रूप में—

> परमानंद दास बिनु को अब लीला गाइ सुनावै।
> सूरदास बिनु पद रचना को कौन कबहि कहि जावै॥

चौरासी की वार्ता में परमानंद के हृदय में भगवल्लीला का उसी प्रकार वल्लभाचार्य जी की कृपा से स्फुरित होना लिखा है, जिस प्रकार सूरदास के संबंध में हम ऊपर वर्णन कर आये हैं। 'सो परमानंद स्वामी को श्री आचार्य जी महाप्रभु ने अनुक्रमणिका सुनाई तब सब लीला की स्फूर्ति भई।'* इससे पता चलता है कि परमानंद भी कीर्तन

---

* इस प्रमाण के लिए देखिये 'अष्टछाप' (काँकरौली), पृ० ७५ 'तब परमानंददास नित्य नये पद करिकै समय समय के श्री नवनीत प्रिय जी को सुनावते'।

का काम विशेष रूप से करते थे। और व्यासजी के उपर्युक्त कथन से यह भी पता चलता है कि परमानंद का लीलागान सूरदास के लीलागान से अधिक प्रसिद्ध था। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि वे गानकला में निपुण थे और दूसरे यह कि सूर से पहले अथवा पीछे वे बहुत दिन तक कीर्तन का कार्य करते रहे। परमानंददास जी के संबंध के तीन प्रसंग 'वार्ता' में दिये हैं; तीनों वल्लभाचार्य जी के समय के हैं। उनके बाद की कोई घटना उसमें नहीं दी है। इससे यही अनुमान होता है कि वल्लभाचार्य जी के साथ उनका बहुत समय तक संसर्ग रहा और उनके उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ जी से कम। ये सब बातें इसी ओर संकेत करती हैं कि सूरदास जी की अनुपस्थिति में परमानंददास जी कीर्तन की सेवा किया करते थे, यद्यपि वे विशिष्टरूप से उसी काम के लिए नियुक्त नहीं थे।

अकबरी दरबार में

आइने अकबरी के अनुसार सूरदासजी भी पिता की तरह अकबरी दरबार * में नौकर थे। इस ग्रन्थ में अबुलफ़ज़ल ने सूरदास का नाम गवैयों की श्रेणी में १६ वें नं० पर दिया है और स्पष्ट शब्दों में उन्हें बाबा रामदास का बेटा बतलाया है। सूरदासजी ने इस संबंध में स्वतः कुछ नहीं कहा है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में सूरदास से अकबर की भेंट होने का उल्लेख है। परन्तु उससे यह नहीं मालूम होता कि सूरदास

* अकबरी दरबार से सम्बंधित सूरदास मदनमोहन दूसरे थे। अष्टछापी सूरदास नहीं, जैसा पहले लिखा जा चुका है।
— संपादक।

अकबर की नौकरी में रहे हों। 'वार्ता' में लिखा है कि सूरदास के पद जब बादशाह के कानों तक पहुचे तो उन्हें इच्छा हुई कि किसी प्रकार सूरदास के दर्शन हों तो अच्छा। एक बार भगवदिच्छा से बादशाह को सूर के दर्शन हो गये। बादशाह ने सूरदास जी से अपना गाना सुनाने को कहा सूरदास ने यह पद गाया—+

मना रे तू करि माधो सों प्रीति।
काम-क्रोध-मद-लोभ तू छाँड़ि सबै विपरीति॥
भौंरा भोगी बन भ्रमें, (रे) मोद न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, (पै) कमल बँधावै आप॥

गाना सुनकर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला कि सूरदास जी तुम भगवान् का यश अच्छा गाते हो। मुझे भी भगवान् हो ने राज पाट दिया है। सब गुणी जन मेरा यश गाते हैं। तुम भी कुछ मेरा यश गाओ। सूरदास जी तो अपने श्याम के रंग में रँगकर 'कारी कमरी' हो गये थे, उनपर दूसरा रंग कैसे चढ़ सकता था। श्याम के अतिरिक्त किसी दूसरे का यश गाते तो कैसे? इसलिए उन्होंने गाया—

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नंद नंदन अछत हिय में आनिए केहि और॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक लोभ दिखाय।
कहा कहूँ हिय प्रेम पूरित घट न सिंधु समाय॥
चलत बैठत उठत जागत सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह मदन मूरति छिन न इत उत जात॥
श्यामगात सरोज आनन ललित गति मृदु हास।
सूर रीझे दरस कारन मरत लोचन प्यास॥

अकबर ने मन में सोचा कि किसी बात का लालच तो इन्हें है ना

+ देखिये सूरसागर, ना० प्र० स०, पृ० १०६, पद ३२५।

कि मेरा यश गावें, इसलिए फिर जोर नहीं किया। और शायद कुछ हँसी की तरज में पूछा कि आँखें तो आपके हैं ही नहीं, प्यासी कैसे मरती हैं। फिर प्रशंसा करते हुए पूछा, बिना देखे भी तुम उपमा वगैरह खूब बाँध लेते हो, सो कैसे? सूर ने इस प्रश्न का भी कुछ जवाब नहीं दिया। पर अकबर ने सोचा आँखें तो इनकी परमात्मा के पास हैं, वहाँ इन्हें जो कुछ दिखाई देता है, उसी का वर्णन करते हैं। विदा करते समय बादशाह ने सूरदास को कुछ देना चाहा, परन्तु वे कब लेने वाले थे। कामनाएँ तो उनकी सब भगवान् में केन्द्रित थीं। अतः योंही विदा हुए।

जोधपुर के कविराजा मुरारिदान ने मुन्शी देवीप्रसाद से इस प्रसंग को और ही तरह कहा था। मुरारिदान जी का कथन है कि अकबर बादशाह ने सूरदास जी की प्रशंसा सुनकर मथुरा के हाकिम को हुक्म दिया कि सूरदास को भेज दें। पहले तो सूरदास जी ने जाना स्वीकार नहीं किया। परन्तु जब उस चतुर तथा योग्य हाकिम के कहने से सूरदास जी के बड़े बड़े सेवकों ने समझाया कि अगर आप न जावेंगे तो इस हाकिम को अकबर अयोग्य समझ कर निकाल देगा। इससे वैष्णवों को कष्ट होगा। क्योंकि यह हाकिम बड़ा दयालु और उदार है, इसके शासन में हम सुख से रहते हैं। इसके स्थान पर जो कोई आवेगा वह न जाने कैसा हो? फिर बादशाह किसी बुरे इरादे से भी आपको नहीं बुला रहा है। उसने आपकी प्रशंसा सुनी है कि आप बड़े कवि और गवैये हैं, इसीलिए आपकी कविता और गाना सुनने के लिए आपको बुलाया है।

सेवकों का आग्रह सूरदास जी को मानना पड़ा। बादशाह उस समय सीकरी में थे। सूरदास जी के आने की खबर पाते ही उन्होंने सूरदास को दरबार में बुला लिया और गाना सुनाने को कहा। सूरदास जी ने बड़े मस्ताने ढंग से नीचे लिखा पद गाया—

सीकरी में कहा भगत को काम ।
आवत जात पन्हैया फाटी भूलि गयो हरि नाम ।।
जाके मुख देखे व्है पातक ताहि करयो परनाम ।
फेर कबों ऐसो जन करियो सूरदास के श्याम ।।

बादशाह तल्लीन होकर गाना सुनता रहा । जब सूरदास गा चुके तो बोला कि मैं तुम्हारी तारीफ में यह तो सुन चुका था कि तुम कवि और गवैया दोनों हो, परन्तु तुम फकीर भी हो, यह आज ही मालूम हुआ है । और उसीदम उनको एक सदी का मनसब दे डाला । सूरदास जी मनसब स्वीकार करना नहीं चाहते थे । परन्तु जब बादशाह ने विशेष जोर दिया और कहा कि जब आपने अपनी फकीरी की आन नहीं छोड़ी तो मैं अपनी बादशाहत की शान कैसे छोड़ सकता हूँ ? आप अगर विभव नहीं चाहते इस मनसब की आमदनी को धर्मार्थ बाँट देना । सूरदास को स्वीकार करना पड़ा ।

मुन्शी देवीप्रसाद जी का ख्याल है कि यह चौरासी वार्ता वाले कथानक पर टिप्पणी है, परन्तु असल में सो कुछ नहीं है । मुरारिदान जी जिस पद को सूर का बतलाते हैं वह वार्ता में कुंभनदास के नाम से इस प्रकार दिया हुआ है—

भक्तन को कहा सीकरी काम ।
आवत जात पन्हैया टूटी, बिसरि गयो हरि नाम ।।
जाको मुख देखे दुख लागै, ताको करन परो परनाम ।
कुंभनदास लाल गिरधर बिन, यह सब झूठो धाम ।।

मालूम होता है कि मुरारिदान जी अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने जिससे मुरारिदान जी ने सुना हो 'वार्ता' में सूर और कुंभनदास दोनों के प्रसंग पढ़े थे । लेकिन स्मृति में उन दोनों का संबंध अलग-अलग व्यक्ति से न रहकर थोड़ा अन्तर लेकर एक ही व्यक्ति से हो गया और वह व्यक्ति स्वभावतः सूरदास थे। जो दोनों में से अधिक प्रसिद्ध हैं ।

यह पद चाहे किसी का हो, यह नहीं जान पड़ता कि अकबर के सम्मुख ही किसी ने इसको गाया होगा। कोई कितना ही मुँहफट क्यों न हो बादशाह के मुँह पर ही "जाको मुख देखे पातक (दुख) लागे, ताको करौ (करनपरी) परनाम" नहीं कह सकता और जो यह कह सकता है उसे प्रणाम करने को ही कौन बाध्य कर सकता है। अगर यह पद सूरदास का है तो उन्होंने इसे दरबार से लौट आने पर कहा होगा। परन्तु वास्तविकता यह जान पड़ती है कि सूरदास का दरबार में आना-जाना देखकर कुंभनदास ने यह फबती कही हो, जिस पर वार्ताकार ने कुंभनदास को ही दरबार में भेजकर अपनी कहानी चिटला दी है।

हो सकता है बाबा रामदास के मरने के बाद उनके स्थान पर सूरदास की नियुक्ति हुई हो। यह भी असंभव नहीं कि जब सं० १६३१ में अकबर ने पदों का पुनर्संगठन किया और मनसब की प्रथा चलाई उस समय तानसेन आदि रामदास के मित्रों और टोडरमल, बीरबल, मानसिंह आदि व्रज-प्रेमियों ने उसे सूरदास की याद दिलाई हो। इसी संबंध में अकबर ने सूरदास को बुलाकर मनसब दिया होगा। सूरदास को मनसब मिलने पर भक्त-समुदाय में बड़ी हलचल मची होगी। जान पड़ता है कि इसी संबंध में किसी ने तुलसीदास जी से भी कहा कि बादशाह के दरबार में चलिए, आपको भी मसनब दिला देंगे। और तुलसी का—

"हम चाकर रघुबीर के, पटौ लिखौ दरबार।
तुलसी अब का होइँगे, नर के मनसबदार॥"

यह दोहा किसी ऐसेही प्रस्ताव के उत्तर में कहा गया होगा। हो सकता है कि सूर कुछ समय तक दरबार में रहकर फिर अपना मनसब छोड़कर चले आये हों। हित हरिवंश जी के मानस शिष्य ध्रुवदास जी ने भी इनके मान-बड़ाई छोड़कर संकेतस्थान में आ रहने की बात लिखी है जो इसी बात की ओर संकेत करती है—

"सैयो नीकी भाँति सों, श्री संकेत स्थान।
रह्यौ बड़ाई छाँड़ि कै, सूरज द्विज कल्यान ॥"

'द्विज कल्यान' और 'संकेत स्थान' के उल्लेख से यह नहीं समझना चाहिए कि ये कोई दूसरे सूरजदास रहे होंगे। अपने 'सूरजदास' नाम को तो सूर ने स्वयं ही उल्लेख किया है। वे अपनी परिस्थितियों में ब्राह्मण क्यों प्रचलित थे, इसको भी हम पर्याप्त रूप से पहले ही बतला चुके हैं। ध्रुवदास जी जैसे राधावल्लभियों का संकेतस्थान को महत्व देना स्वाभाविक ही है। सूरदास तो कृष्ण के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी स्थानों को पवित्र समझते रहे होंगे। हो सकता है कि सीकरी से आकर कुछ दिन संकेतस्थान में ही रहे हों अथवा समय-समय पर उसका दर्शन कर आते रहे हों।

मुंशी देवीप्रसाद जी यह भी संभव समझते हैं कि सूरदास जी ने वस्तुतः अपना पद न छोड़ा हो और समय-समय पर हाजिरी देकर तनखाह ले आते हों। क्या कुंभनदास का 'भक्तन को कहा सीकरी काम' वाला पद इसी बात की ओर तो संकेत नहीं करता ?

रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह ने अकबरी दरबार संबंधी एक विचित्र घटना का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि जब सूरदास दरबार में हाजिर हुए तो अकबर ने उनसे पूछा, 'तुम कौन हो'। सूरदास ने जवाब दिय 'अपनी बेटी से पूछिए'। अकबर की पुत्री को जब सूरदास का समाचा ज्ञात हुआ तो उसने शरीर ही त्याग दिया। पीछे मालूम हुआ कि राधिक की किसी सहचरी को किसी अपराध के दंडस्वरूप म्लेछ के घर जन्म लेन पड़ा था, वही अकबर की पुत्री थी। और सूरदासजी उद्धव थे जिन्हें मा के समय कृष्ण की वकालत करते हुए राधा जी को कुछ कटूक्ति कहने कारण पृथ्वी पर अवतरित होना पड़ा था। इसमें अगर कुछ तथ्य है इतना ही कि जिस समय सूरदास जी अकबर के दरबार में हाजिर हुए

उसी के आस-पास अकबर की किसी लड़की का देहांत हुआ था जिससे इस विचित्र घटना को गढ़ने का अवकाश मिल गया।

इसमें तो संदेह नहीं कि अकबर धार्मिक व्यक्तियों को आदर की दृष्टि से देखता था उनके विचारों को ध्यान से सुनता था। मालूम होता है कि उसका दीनेइलाही इन्हीं का सुसंगठित रूप था। दीनेइलाही के प्रचार के लिए भी वह साधु-संतों की सहायता चाहता था। वह जानता था कि प्रचार का जैसा काम रमते साधू कर सकते हैं, वैसा किसी संगठित संस्था-द्वारा भी शायद ही हो सके। दीनेइलाही-द्वारा वह अपने को पृथ्वी पर परमात्मा का प्रतिनिधि और पैगम्बर घोषित करना चाहता था। अगर हिंदू और मुसलमान दोनों उसके नवीन धर्म को ग्रहण कर लेते और उसे परमात्मा का दूत अथवा प्रतिनिधि मान लेते तो निश्चय ही उसके साम्राज्य की नींव दृढ़ हो जाती और विस्तार भी बढ़ जाता। एक प्रकार से भारत का खलीफा बन जाने के कारण उसका जो व्यक्तिगत सम्मान बढ़ जाता वह तो रहा ही। यह बात हो दूसरी है कि जिन लोगों को उसने मान दिया था, उन्होंने उसके धर्म को स्वीकार किया या नहीं, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि वह यह आशा अवश्य करता था कि वे लोग ऐसा करेंगे। सूरदास को भी उसने अपने नवीन धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न किया था, इसका पता उसके वजीर अबुलफजल के एक पत्र से चलता है जो उसने सूरदास के नाम काशी भेजा था। अबुल-फजल के पत्रों का संग्रह उसी के भानजे अब्दुरसमद ने संवत् १६६२ में किया था जिसका नाम मुंशियात अबुलफजल है। सूरदास के नाम का वह पत्र इसी ग्रन्थ के दूसरे दफ्तर के अन्त में दिया हुआ है। पत्र का हिंदी रूपांतर यहाँ दिया जाता है।

बादशाहों की प्रशंसा से पत्र को आरम्भ करते हुए अबुलफजल लिखता है तत्वज्ञ ब्राह्मण और वनवासी योगी एवं सन्यासी भी बादशाहों के हित-कामुक तथा भक्त होते हैं और बादशाह भी अपने धर्म का पक्ष-

। छोड़ कर इन भगवत्सखाओं की आज्ञा का पालन करते हैं और उन दशाहों का तो कहना ही क्या है जो धर्मराज भी हों। तिस पर अब उस बादशाह का डंका है जिनकी भक्ति और सत्यता की सीमा नहीं। रमेश्वर ने इनको धर्मराज बनाया है, हम लोगों से इनकी बुद्धिमानी ते क्या तारीफ हो सकती है। पर बहुत न सही तो थोड़ा जरूर मेरी समझ में आया है, वही लिखता हूँ। प्राचीन काल में जनसमुदाय में से चुनकर जैसे रामचन्द्र को सत्य परिचययिनी मति प्रदान की थी वैसे ही वह उच्चपद आज इस महात्मा को प्रदान किया है। अन्तर इतना ही है कि रामचन्द्र सतयुग में थे, जब लोगों में दया और धर्म को प्रवृत्ति थी। किंतु आज का यह सद्गुरु कलयुग में है। किसमें इतनी बुद्धि और वाक्-शक्ति है कि इस जगद्गुरु के अलौकिक चमत्कारों को समझे और कहे। भूमि, पर्वत, वन और बस्ती के सब निवासियों का कर्तव्य है कि इन हजरत के परमानों को परमात्मा की आज्ञा मान कर उनके पालन का यत्न करें।

मैं आपकी विद्या और बुद्धि का वृत्तांत पहले से ही सज्जनों और निष्कपट पुरुषों से सुना करता था और परोक्ष ही आपको मित्र मानता था। अब जो सरल तथा सुमार्गी ब्राह्मणों से सुना है कि आप इस समय के बादशाह के महात्मा और पारमात्मिकता (हक्कानियत) का परिचय पाकर पूर्ण भक्त हो गये हैं तो आपको बुद्धि और तप की पूर्ण परीक्षा हो गई है। भगवद्भक्तों को विरक्त के वेश में यह पहचान लेना इतना कठिन नहीं है जितना गृहस्थाश्रम और राजवेश में पहचानना है। बहुत से बुद्धिमान् लोग ऐसे भी हो जाते हैं, जो बाहरी वेश से बहककर भीतरी रहस्य से अपरचित रह जाते हैं।

हजरत बादशाह शीघ्र ही इलाहाबाद को पधारेंगे। आशा है, आपको सेवा में उपस्थित होकर सच्चे शिष्य (मुरीद हकीकी) बनेंगे। परमात्मा को धन्यवाद देना चाहिए कि हजरत भी आपको ईश्वरज्ञ जानकर

मित्र मानते हैं। और इन दरगाह के चेलों के लिए भी इससे अच्छा और क्या व्यवहार हो सकता है कि वे हजरत को मित्र मानें। ईश्वर शीघ्र ही आपके दर्शन करावे जिससे हम को भी आपके सत्संग और आपकी मनहरणवाणी का लाभ प्राप्त हो।

वहाँ का करोड़ी आपके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता है, यह सुनकर हजरत को भी बुरा लगा है। इस सम्बन्ध में उसके नाम कोपमय आज्ञापत्र जा ही चुका है। इस तुच्छ अबुलफजल को भी आज्ञा हुई है कि आपको दो-चार अक्षर लिखे। अगर वह करोड़ी आपका आदेश न मानता हो तो हम उसको निकाल देंगे। उसकी जगह के लिए आप जिसको उचित समझें, जो दीन-दुखियों का तथा संपूर्ण प्रजा का ध्यान रखे, उसका नाम लिख भेजिये जिससे प्रार्थना करके उसे नियत करा दूँ। हजरत बादशाह आपको परमात्मा से भिन्न नहीं समझते हैं। इसलिए वहाँ के काम की व्यवस्था आप की ही इच्छा पर छोड़ दी है। वहाँ ऐसा शासक चाहिए जो आपके अधीन रहे और आपकी व्यवस्था के अनुसार काम करे। सत्य के आग्रह से ही ऐसा किया जा रहा है। खत्रियों वगैरह में जिस किसी को आप ठीक समझें और जानें कि वह ईश्वर को पहचानकर प्रजा का प्रतिपालन करेगा उसी का नाम लिख भेजिये तो प्रार्थना करके भेज दूँ। भगवद्भक्तों को भगवदीय कार्यों में अज्ञानियों के तिरस्कार की आशंका न होनी चाहिए। भगवान् की कृपा से आपका शरीर ऐसा ही है। भगवान् आपको सत्कर्मों में श्रद्धा दे, आपको सत्कर्मों में स्थिर रक्खे ज्यादे सलाम।*

यह पत्र सूरदास के नाम है जो काशी में था (दर बनारस बूद)। परंतु इस नाम का काशी का कोई भी महात्मा प्रसिद्ध नहीं है। इतने बड़े महात्मा कोई काशी में हुए हों और आज उनका नाम भी

---

* मुं० देवीप्रसाद के अनुवाद के आधार पर, पृ० २७-२१

भूल गया हो, यह बात कुछ अनहोनी भी लगती है। 'भारतवर्षीय उपासक-संप्रदाय' नामक पुस्तक में अजयत्ता बा० अक्षयकुमार दत्त ने रामानंद जी के शिष्य सूरदास का उल्लेख किया है जिसकी समाधि का उन्होंने शिवपुर में होना लिखा है। परंतु उन्होंने प्रवाद के आधार पर लिखा है और यह प्रवाद भी किसी के उर्वर मस्तिष्क की ही उपज मालूम होती है; क्योंकि काशी में ऐसा प्रवाद वस्तुतः है नहीं। अतएव यह पत्र किसी काशी-निवासी सूरदास को नहीं लिखा गया है। ठीक यही मालूम होता है कि बाहर से कोई सूरदास काशी में आकर कुछ दिन तक ठहरे थे। उन्हीं को यह पत्र लिखा गया है।

लेकिन प्रश्न यह है कि यह सूरदास थे कौन ? हमारी समझ से दो ही सूरदास ऐसे हैं जिनको इस पत्र का लिखा जाना संभव हो सकता है। एक सूर मदनमोहन और दूसरे हमारे चरितनायक सूरश्याम। पत्र से स्पष्ट है कि यह सूरदास बहुत प्रसिद्ध कवि और साधु था। उसकी कविता मनोहर होती थी ('सखुनाने दिलकश') और वह परमात्मा के उन मित्रों में से था ('खुदादोस्त') जिनकी आज्ञा का सम्राटों को भी पालन करना चाहिए। सूर मदनमोहन के संबंध में भी ये बातें किसी हद तक कही जा सकती हैं, परंतु सत्य की उस प्रणाली के साथ नहीं जिसके साथ सूरश्याम के संबंध में। जिस सूरदास को यह पत्र लिखा गया है वह अकबरी दरबार में उतना परिचित भी नहीं मालूम होता जितना सूर मदनमोहन को होना चाहिए था। सूर मदनमोहन अकबर के समय में संडीले के अमीन थे। कहते हैं कि एकबार इस गौडीय वैष्णव ब्राह्मण ने तहसील की मालगुजारी के तेरह लाख रुपए साधुओं को बाँट दिये और संदूकों में कंकड़-पत्थर भरकर भेज दिये संदूकों में कागज के टुकड़े भी डाल दिये थे जिन पर लिखा था—

तेरह लाख संडीले आये, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन आधीरात सटके॥

और भागकर वृंदावन चले गये। पर बादशाह ने इनको माफ़ कर दिया।

उपर्युक्त पत्र का स्पष्ट उद्देश्य सूरदास को दीनेइलाही ग्रहण करने के लिए फुसलाना था। इसी उद्देश्य से उसमें बादशाह के महत्व का वर्णन किया गया है और सूरदास के ऊपर का भार डालने का प्रयत्न किया गया है। अगर यह सूरदास सूर मदनमोहन होते तो इस क्षमा का उल्लेख उसमें अवश्य होता। यह एक ओर जहाँ बादशाह का आध्यात्मिक महत्व सूचित करता, वहाँ दूसरी ओर सूर में कृतज्ञता-बुद्धि उत्पन्न करने में भी सहायक होता। इसलिए वह पत्र सूर मदनमोहन के लिए न लिखा जाकर सूर श्याम के लिए ही लिखा गया है। यद्यपि सूरदास काशी के नहीं थे, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि वे काशी आये थे। वल्लभ संप्रदायवालों के लिए वाराणसी में विशेष आकर्षण होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि उसका वल्लभाचार्य जी के जीवन से बहुत संबंध था। उन्होंने विद्याध्ययन भी काशी में ही किया था। शास्त्रार्थ में उनको विजयलाभ भी यहीं पर हुआ था। पुरुषोत्तमदास आदि उनके लक्ष्मी के कृपापात्र शिष्य यहीं के थे। और अंत में संन्यास लेकर वे यहीं रहे और यहीं उनको वैकुंठलाभ हुआ। काशी में उनकी तीन बैठकें हैं जिनको उनके संप्रदायवाले परम पवित्र समझते हैं। हनुमान-घाट पर उनके महाप्रस्थान का स्थान तो विशेष रूप से पवित्र माना जाता है। बहुत संभव है कि सूरदास काशी आये हों और यहाँ के करोड़ी ने उनके साथ बुरा व्यवहार किया हो। पत्र का वह अंश जिसमें करोड़ी का उल्लेख हुआ है, स्पष्ट प्रकट करता है कि कुछ ब्राह्मणों ने करोड़ी के दुर्व्यवहार की शिकायत अकबर तक पहुँचाई थी।

वल्लभ संप्रदायवालों को अकबरी दरबार के बड़े-बड़े दरबारियों का रक्षण प्राप्त था जिनकी सलाह से उनके मंदिरों का प्रबंध किया जाता था। चौरासी वार्ता में लिखा है कि जब श्रीनाथ के मंदिर में भीतरिया बंगालियों

की मृत्यु हो गई। इससे यह पत्र १६४० और १६४२ के बीच का लिखा होना चाहिए। लेकिन एक बात को ख्याल और रखना चाहिए। वह यह कि इलाहाबाद जहाँ पर बसाया गया था वह स्थान बिल्कुल वीरान नहीं था। प्रयाग बहुत प्राचीन काल से एक पवित्र तीर्थ माना जाता है, अकबर ने कुछ इस दृष्टि से भी इस स्थान को अपने नवीन शहर के लिए चुना था। केवल बलवाइयों को दबाना ही वहाँ से आसान नहीं होता प्रत्युत दीनेइलाही के प्रचार के लिए भी वह उपयुक्त स्थान होता। स्वतः प्रयाग एक छोटा-मोटा नगर ही रहा होगा। अतएव अनकरीब बादशाह इलाहाबाद तशरीफ ले जावेंगे, यह कहने के लिए यह जरूरी नहीं कि इलाहाबाद की उस समय तक स्थापना हो गई हो। बिना नई इमारतों के बने भी प्रयाग का नाम इलाहाबाद रक्खा जा सकता है। हो सकता है कि उस समय बादशाह इलाहाबाद की यथाविधि स्थापना के लिए जा रहे हों। अतएव अगर यह अनुमान ठीक है तो यह पत्र कातिक सुदी १२ संवत् १६४० से कुछ दिन पहले का होना चाहिए, क्योंकि बादशाह इस दिन फतहपुर सीकरी से रवाना हुए थे और अगहन सुदी ६ संवत् १६४० को प्रयाग पहुँचे थे। ऐसी दशा में यह संभव नहीं कि प्रयाग में सूरदासजी अकबर से मिलने गये हों। सम्राट् ने सूरदास के साथ जैसा सलूक किया था, जिसका इस पत्र से कुछ प्रकाश पड़ता है, उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि सूरदास जी ने उसके आग्रह को टाल दिया हो। परंतु मुरीद होने का जो प्रस्ताव पत्र में किया गया है उससे यही अधिक संभव मालूम होता है कि सूरदास ने अवश्य ही उस दिन को टालने का प्रयत्न किया होगा जिस दिन उनके समक्ष यह धर्म-संकट साक्षात् उपस्थित हो गया था। सूरदास प्रयाग तो अवश्य गये थे, इसका संकेत निम्नलिखित पद * से मिलता है—

* सूरसागर, नवम स्कन्ध, पृ० १८१, पद ४५५।

जय जय जय जय माधव बेनी ।
जगहित प्रकट करी करुनामय अगतिन को गति दैनी ।।
जानि कठिन कलिकाल कुटिल नृप संगसजी अघसैनी ।
जनु ता लगि तरवार त्रिविक्रम धरि करि कोप उपैनी ।।
मेरु मूठि वर वारि पाल छिति बहुत वित्त की लैनी ।
सोभित अंग तरंग त्रिसंगम धरी धार अति पैनी ।।
जा परसैं जीतैं जम-सैनी, जमन, कपालिक, जैनी ।
एकै नाम लेत सब भाजैं, पीर सो भव-भय-सैनी ।।
जा जल-मुद्ध निरखि सम्मुख ह्वै, सुंदरि सरसिज-नैनी ।
सूर परस्पर करत कुलाहल, गर सृग-पहरावैनी ।। ४५५ ।।

परंतु यह नहीं मालूम होता कि वे अकबर को मिलने के लिए ही प्रयाग आये हों। हो सकता है कि वह स्वयं वल्लभाचार्य जी के साथ अड़ैल गये हों और उसी अवसर पर प्रयाग भी हो आये हों [वल्लभाचार्य जी के संन्यास लेकर काशीवास करने में भी उनका उनके साथ रहना, संभव है ।]

परंतु यदि इस पत्र को इलाहाबाद के बसने के बाद का मानें तो किसी भी हालत में इलाहाबाद में बादशाह से सूरदास की भेंट होना नहीं घट सकता। क्योंकि गुजरात के उपद्रव को दबाने के लिए इलाहाबाद से बादशाह जो माघ बदी ३ को रवाना हुए तो कई वर्षों तक इधर ही उधर रह गये। गुजरात का उपद्रव शांत हुआ तो काबुल में दूसरा उपद्रव उठ खड़ा हुआ जिससे १३ वर्ष तक बादशाह को पंजाब ही में रहना पड़ गया। संवत् १६५५ में वे आगरे आये, पर तब तक संवत् १६४२ के पहले ही सूरदास का गोलोकवास हो चुका था।

साहित्यिक जीवन

इसमें तो संदेह नहीं कि सूरदास जन्म ही से ऐसी परिस्थिति में पले थे जिसमें उनका कवि होना स्वाभाविक था। उनके पिता बाबा-रामदास स्वतः कवि थे। शिवसिंह सरोज में से उनका एक पद पहले दिया जा चुका है। शायद कालिदास के हजारा और रागसागरोद्भव आदि प्राचीन संग्रह-ग्रंथों में और भी दिये हों। प्रज्ञाचक्षु होने के कारण अपने हृदय के भावों को व्यक्त करने की सूर की इच्छा सामान्य कवियों से अधिक तीव्र थी। आगे चलकर जिन स्थितियों में वे रहे, उन्होंने उनकी कवित्व शक्ति को और भी पुष्ट कर दिया। तानसेन की मित्रता, वल्लभाचार्य की शिष्यता, वैष्णवों का सत्संग, स्वयं उनकी अपनी तल्लीनता और गान कुशलता, इन सबने मिलकर उनको अद्भुत काव्य-स्रष्टा बना दिया था। चौरासी की वार्ता से पता चलता है कि जैसे कविता करने के लिए उन्हें सोचना-विचारना कुछ भी न पड़ता हो। कविता उनके मुँह से संगीत के रूप में अपने आप धाराप्रवाह बह चलती थी। उनकी कविता का बाहुल्य ही उनकी रचना-सौकर्य का परिचायक है। चौरासी की वार्ता से पता चलता है कि पहले पहल वे केवल विनय के पद बनाकर गाया करते थे। वल्लभाचार्य जी से भेंट होनेपर उन्होंने जो पद गाया था, उसमें सूर के दैन्य की झलक मिलती है। उसे सुन-कर वल्लभाचार्य जी ने उन्हें भगवल्लीला-गान की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य से कहा था कि सूर होकर इतना घिघियाना अच्छा नहीं है।

वल्लभाचार्य का उपदेश पाकर उन्होंने जब कृष्णलीला गाना आरंभ किया तो एकदम सागर ही भर दिया। यह तो निश्चय है कि उन्होंने भागवत के आधार पर जो पद गाये हैं, उनकी रचना ग्रंथ-प्रणयन के रूप में शृंखलाबद्ध नहीं हुई है। वल्लभाचार्य जी ने उनको कीर्तन की सेवा सौंपी थी। शृंगार के समय वे नित्य नवीन पद बनाकर

गाया करते थे। किस-किस समय में कौन-कौन पद बनें, आज इसका निपटारा करना असंभव है। जब उन्होंने सहस्रावधि पद बना लिये थे तब अकबर ने उन्हें दरबार में बुलाया था। ६७ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपनी रचनाओं का सार खींचकर सूरसारावली बनाई जिसमें उन्होंने एक लक्ष पद रचने की बात कही है—"ता दिन तें हरिलीला गाई एक लक्ष पद बंद"। परंपरा से उनका सवा लक्ष पद रचना प्रसिद्ध है। परंतु सूर के जितने संग्रह मिलते हैं, उनमें से किसी में भी ५-६ हजार से ज्यादा पद नहीं मिलते हैं। काँकरौली के टिकैत श्री गोस्वामी महाराज बालकृष्णलाल जी ने बा० राधाकृष्णदास से कहा था कि उनके यहाँ पूरे सवालक्ष पदों का संग्रह है, परंतु उस संग्रह को आजतक किसी ने देखा नहीं।

जो कुछ भी हो, परंतु जब स्वयं सूरदासजी कहते हैं तब मानना पड़ेगा कि उनके एक लाख पद रचने की बात-ही-बात नहीं है। मालूम होता है कि अपने इन पदों को सूरदासजी ने स्वयं संगृहीत नहीं किया था। इसी से शायद वे सब अब मिलते नहीं हैं। खो जाने के डर से उन्होंने सूर-सारावली नाम से उनका केवल एक संक्षेप अथवा सूचीमात्र बनाई थी। भक्त कल्पद्रुम के रचयिता ने सूरसागर के संग्रह के संबंध में तीन किंवदंतियों का उल्लेख किया है। एक के अनुसार पचहत्तर हजार पद बनाकर ही सूर की मृत्यु हो गई थी। सूरश्याम छाप से भगवान् ने शेष २५ हजार की रचना के एक लाख पद पूरे किये। परंतु यह जँचता नहीं है। क्योंकि सूरश्याम छाप स्वयं सूरदासजी की थी जिनका उल्लेख उन्होंने साहित्य लहरी ही वाले पद में किया है ["नामराखे मोर सूरदास सूर सुश्याम"]

दूसरी किंवदंती यह है कि अब्दुर्रहीम खानखाना ने सूरसागर का संग्रह किया। उन्होंने सूर के एक-एक पद के लिए एक-एक अशर्फी देने की घोषणा की थी। अशर्फियों के लोभ से लोग झूठे पद भी लाने लगे। तब खानखाना ने उन्हें तोल कर लेना निश्चय किया। जो पद सूरदास के होते

थे वे छोटे हों चाहे बड़े बराबर तोल के निकलते थे। उससे कम ज्यादा तोल के झूठे समझकर वापिसकर दिये जाते थे। तीसरी किंवदंती सूरसागर के संग्रह का श्रेय सम्राट अकबर को देती है। अकबर के सामने भी जब झूठे-सच्चे पदों के निर्णय की समस्या उपस्थित हुई तो उसने पदों को जलाना आरंभ किया। झूठे पद जल जाते थे परंतु असली पदों पर आँच भी न आने पाती थी। ये किंवदंतियाँ जिस रूप में हैं, उसमें तो ये अपनी असत्यता के प्रमाण अपने आप हैं। परंतु यह असंभव नहीं कि अकबर अथवा रहीम का सूरसागर के संग्रह में कुछ हाथ रहा हो। किंवदंतियों से प्रकट है कि सूर के पदों की चर्चा अकबरी दरबार में हुआ करती थी। क्या आश्चर्य कि अकबर ने कभी इस बात की ओर संकेत किया हो कि सूर के पदों का संग्रह हो जाता तो बड़ा अच्छा होता, और रहीम ने उसे गाँठ बांधकर उनके संग्रह का प्रयत्न कराया हो। आजकल मिलनेवाले संग्रहों में कथाक्रम की स्थापना के लिए बीच-बीच में जो दोहे सूरसागर में जोड़ दिये गये हैं, वे सूरदास के नहीं मालूम होते सूरदास के सब पदों का न मिलना भी इस बात का द्योतक है कि स्वयं सूरदास जी ने उनका संग्रह नहीं किया। इस काम को बहुत भारी समझकर ही शायद सूरसारावली * की रचना की गई हो।

---

* सूरसारावली, रचना-शैली, भाव और विचार-पद्धति तीनों की दृष्टि से ही सूरदास की रचना है और सूरसागर की भूमिका के रूप में है। इसमें सूरसागर की कथा का आधार, संक्षेप में, अविच्छिन्न कथा-प्रवाह के साथ दिया गया है। सूर ने, स्वयं अपनी रचना का संग्रह न कर सकने के कारण, उनके प्रसंगों के निर्देश एवं भाव-वर्णन के सार को एक स्थान में देने के उद्देश्य से इसकी रचना की थी। यह मूल रामायण, मूल भागवत आदि की पद्धति पर लिखा जान पड़ता है। अधिकांश विद्वानों-द्वारा यह सूर की रचना के रूप में मान्य है।—संपादक।

आजकल सूर के पदों का संग्रह सूरसागर के नाम से प्रसिद्ध है। परंतु मूलरूप में सूरसागर सूर के पद-संग्रह का नाम न होकर उनकी उपाधि मालूम होती है। चौरासी की वार्ता से पता चलता है कि अष्ट-छाप में से सूर और परमानंद सागर कहलाते थे। वल्लभाचार्य जी भागवत को पीयूष समुद्र कहते थे, इसी से स्वयं वल्लभाचार्य जी "भागवत पीयूष समुद्र मंथनक्षमः" कहलाये। इसी अमृत सागर को आचार्य ने अनुक्रमणिका का श्रवण कराकर सूरदास और परमानंददास के हृदय में स्थापित कर दिया था। इसलिए वार्ता के अनुसार सूरदास 'सूरसागर' और परमानंद 'परमानंद सागर' कहलाये।* वार्ता में सूर के तीसरे प्रसंग में भी सूर को सागर कहा है। उस स्थल पर वे अपने पदों के सागर कहे गये हैं। "सूरदासजी ने सहस्रावधि पद किये हैं ताको सागर कहिये सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।" पीछे सूर की रचनाओं का संग्रह भी सूरसागर कहा जाने लगा, जो उचित भी है। सूरसागर में उनकी आदि से अंत तक की रचनाओं का संग्रह होगा।

संवत् १६०७ में उन्होंने साहित्य लहरी की रचना की जिसमें उन्होंने अपनी वंश-परंपरा सम्बन्धी पद दिया है। इसकी रचना का संवत् नीचे लिखे पद में दिया है।

मुनि[७] सुनि[०] रसन के रस[६] लेप।
दशन[१] गौरी नन्दन को लिखि सुवल संवत् पेप॥
नन्द नन्दन मास छैतें हीन तृतिया वार।
नन्द नन्दन जन्म ते हैं बाण सुख आगार॥
त्रितय रिक्ष सुकरमयोग विचारि सूर नवीन।
नन्द नन्दन दासहित साहित्य लहरी कीन॥

इसमें दृष्टकूट हैं। यद्यपि सूरसागर में भी दृष्टकूट मिलते हैं, तथापि

---

* देखिये परमानंद दास की वार्ता, पहला प्रसंग, अष्ट छाप, पृ० ५५।

साहित्यलहरी के पद उसमें नहीं हैं। जान पड़ता है कि साहित्यलहरी में उनके सुरक्षित रहने के कारण ही सूरसागर के संग्रहकर्त्ताओं ने सूरसागर में उसके संग्रह की आवश्यकता नहीं समझी। सूरसागर और सूरसारावली में इनके पदों के न मिलने से यह अनुमान न लगाना चाहिए कि इसकी रचना सूरसारावली के पीछे हुई है। साहित्य लहरी की रचना केवल भक्ति-उद्रेक के कारण नहीं हुई है बल्कि काव्य-चमत्कार दिखाने के लिए।

साहित्य लहरी नाम ही से प्रगट होता है कि सूरदासजी केवल भक्त कवि कहलाने से संतुष्ट नहीं थे, अपनी साहित्यज्ञता का भी प्रदर्शन करना चाहते थे। अपने संसर्ग में आने वाले कृष्णभक्त कवियों से अपने काव्य की श्रेष्टता का अनुभव उन्हें बहुत पहले हो गया था। एक बार उन्होंने कृष्णदास को यह कहकर नीचा दिखाया था कि तुम्हारी कविता में मेरी छाप है। साहित्य लहरी भी इसी महत्वाकांक्षिणी प्रवृत्ति की संकेत करती है। उसे उन्होंने स्वांतःसुखाय नहीं बनाया था बल्कि दूसरों के लिए। शायद कृष्णभक्त कवियों में उन्हें साहित्यिकता का अभाव खटकता था। इसलिए उन्होंने इसको 'नन्द नन्दन दासहित' बनाया था। यह प्रवृत्ति बिल्कुल बुढ़ापे की नहीं जान पड़ती। हमने सूरदासजी का जन्म लगभग संवत् १५६२ में माना है इसके अनुसार साहित्य लहरी की समाप्ति पर सूरदासजी की अवस्था ४४ वर्ष की होगी जो ऐसी मनोवृत्ति के लिए अनुपयुक्त नहीं है।

साहित्य लहरी की जो प्रति प्रकाश में आई है उसमें टीका भी दी हुई है जो सूरदास की बनाई हुई मानी जाती है। परन्तु जैसा राधाकृष्णदास जी ने बतलाया है बहुत पीछे के बने भाषाभूषण के दोहों का उसमें प्रमाण के लिए पेश किया जाना इसके भी विपरीत जाता है।

सूरसारावली की रचना सूरदासजी ने ६७ वर्ष की अवस्था में की जैसा कि निम्नलिखित अवतरण से सिद्ध है—

गुरु प्रसाद होत यह दर्शन सरसठ वरस प्रवीन।
शिवविधान तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन ॥१००२॥

× × ×

ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।
ताको सार सूर सारावलि गावत अति आनन्द ॥११०२॥

सूरसारावली को सूरदास जी ने होली-लीला के रूप में बनाया है। "खेलत एहि विधि हरि होरी हो होरी हो बेद विदित यह बात" इस पद के साथ सारावली आरंभ होती है और अन्त में होली की परिसमाप्ति के साथ ही समाप्त भी होती है। इस ग्रन्थ में सारी सृष्टि की, होली के खेल के रूप में कल्पना की गई है।

यह तो स्पष्ट है कि सूरदास मरते दम तक कविता रचते रहे होंगे जिनका सूरसागर में संग्रह हुआ होगा। चौरासी की वार्ता में चार पद दिये हुए हैं जिन्हें उन्होंने अपने जीवन के अंतिम दिन रचा था। कहते हैं कि सूरदास जी ने नलदमयन्ती* नामक एक काव्य की रचना भी की थी, परन्तु अब यह ग्रन्थ कहीं मिलता नहीं है। यह निर्णय करने का भी कोई साधन नहीं है कि यह केवल प्रवाद ही तो नहीं है।

---

* सूरकृत 'नलदमयन्ती' ग्रन्थ अभी तक विद्वानों के देखने में नहीं आया। इसका उल्लेख मिश्रबन्धुओं और राधाकृष्णदास ने किया है। डॉ० मोतीचन्द द्वारा 'प्रिंस आव् वेल्स म्यूजम, बम्बई में देखी पुस्तक 'नलदमन' सूफी ढंग पर लिखा गया प्रेम काव्य है। ये सूरदास, जैसा कि उस ग्रन्थ में प्राप्त लेखक के परिचय से स्पष्ट है अष्टछापी सूरदास नहीं है। (देखिये नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १६ अंक २)

—सम्पादक

स्फुट प्रसंग

अपने जीवन-काल ही में सूर को जो प्रसिद्धि-लाभ हो गया था, उसे देखते हुए स्वभावतः उनका परिचय-मंडल बहुत विस्तृत होना चाहिए। वृन्दावन की तत्कालीन वैष्णव-मंडली तथा अकबरी दरबार में प्रायः सभी उनको जानते रहे होंगे। वल्लभाचार्यजी उनकी वर्णन शक्ति की बहुत प्रशंसा करते थे। गोसाईं विट्ठलनाथ जी उनको पुष्टिमार्ग का जहाज समझते थे। अकबरी दरबार में समय-समय पर उनकी चर्चा छिड़ती थी। अकबर उनके पदों की प्रशंसा करता था। अबुलफजल ने उनके लिए ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया है जो उच्च से उच्च महात्माओं के लिए ही प्रयुक्त किये जाते हैं। इस महापुरुष का तत्कालीन लोगों के साथ किस प्रकार का व्यवहार था और लोग किस दृष्टि से इस महात्मा को देखते थे साधारण मनुष्य की कल्पना में उन्हें सजीवसा बनाने के लिए इसका विशेष परिज्ञान आवश्यक है।- परन्तु जैसा हमारा जी चाहता है इसका वैसा उल्लेख मिलता नहीं। जो कुछ थोड़ा सा मिलता है उसी का यहाँ हम स्फुट प्रसंगों के रूप में वर्णन कर देते हैं; जब तक और सामग्री उपलब्ध नहीं होती तब तक इसी पर संतोष करना चाहिए।

श्रीनाथजी के मन्दिर के अधिकारी कृष्णदास भी महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के प्रधान शिष्यों में थे। ये कवि भी अच्छे थे। इनकी भी अष्टछाप में गणना की जाती है। इन्होंने बहुत पदों की रचना की है। वार्ता में लिखा है कि एक बार सूरदासजी ने इनसे कहा कि तुम जो पद बनाते हो उनमें मेरी छाया रहती है। वैसे तो कृष्णदास बड़े अक्खड़ स्वभाव के शूद्र थे किसी को खरी-खोटी सुनाने में, ·नीचा दिखाने में चूकते न थे। मीराबाई के अतिरिक्त हितहरिवंश, व्यास आदि संतों की 'नाकनीची' करने के उद्देश्य से इन्होंने एक बार मीराबाई की भेंट फेर दी थी। बंगालियों की झोपड़ी में आग लगा कर गोवर्द्धन से निकाल दिया था।

और रुष्ट होकर एक बार गोसाईं विट्ठलनाथ जी की ड्योढ़ी बन्द कर दी थी। परन्तु सूरदास के आक्षेप का वे जवाब न दे सके। चिढ़ कर के बोले, अच्छा अब की ऐसा पद बनाऊँ जिसमें तुम्हारी छाया न आवे। और एकांत में जाकर बड़े एकाग्रचित होकर नया पद बनाने लगे। तीन तुक तो बन गईं पर आगे न बढ़ सके। बहुत करने पर भी जब न बन पड़ता तो यह निश्चय कर कि फिर सोचेंगे कलम दवात कागज वहीं छोड़ कर श्रीनाथ जी का प्रसाद लेने चले गये। जब कृष्णदास लौट कर आये तो देखते हैं कि श्रीनाथजी ने पद पूरा कर दिया है। इससे कृष्णदास बड़े प्रसन्न हुए। पद यह था—

रागगौरी

आवत बने कान्ह गोप बालक संग
नेंचुकी खुर रेणु छुरतु अलकावली
भौंहें मनमथ चाप वक्रलोचनवान
सीस सोभित मत्त मयूर चंद्रावली ॥

उदित उडुराज सुंदर सिरोमणि वदन
निरखि फूली नवल जुवली कुमुकावली ॥
अफूण सकुच अधर बिम्ब फलहसात।
कहत कछुक प्रकटित होत कुंद कुसमावली ॥
श्रवण कुंडल भाल तिलक बेसरि नाक
कंठ कौस्तुभमणि सुभग त्रिवलावली ॥
रत्न हाटक खचित उरसि पदिकनिपाँति
बीच राजत सुभपुलक मुक्तावली ॥

श्री नाथ जी कृत –

वलयकंकण बाजूबंद आजानुभुज
मुद्रिका कर दल विराजत नखावली।

ववरातर मुरलिका मोहित अखिलविश्व
गोपिका जन्मसि ग्रसथित प्रेमावली ।।
कटि छुद्र घंटिका जटित हीरामयी
नाभि अंवुज वलित भृंग रोमावली ।
धायक वहुक चलत भक्तहित जानि पिय
गंडमंडल रुचिर-श्रमजल कणावली ।।
पीत कौसेय परिधान सुंदर अंग चरण
नूपुर वाद्यगीत सवदावली ।
हृदय कृष्णदास गिरवरधरण लाल की
चरण नख चंद्रिका हरति तिमिरावली ।।

उत्थापन के समय जब सूरदासजी दर्शन के लिए आये तो कृष्णदास ने वह पद उनको सुनाया। तीन तुक तक तो सूरदास कुछ नहीं बोले; किंतु ज्यों ही कृष्णदास आगे बढ़ने लगे त्यों ही उन्होंने कहा, कृष्णदास मेरा तुमसे वाद है प्रभुओं से नहीं, मैं प्रभुओं की वाणी पहचानता हूँ। कृष्णदास चुप रह गये।

× × × ×

कहते हैं तानसेन से सूरदास की बड़ी मित्रता थी। वे सूर के पदों की बड़ी प्रशंसा करते थे। वे अकबरी दरबार में सूर के पद गाया करते थे। इनकी प्रशंसा में एक बार उन्होंने वह दोहा कहा—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौ सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ तनमन धुनत शरीर ।।

इसके जवाब में सूरदास ने यह दोहा कहा—

विधना यह जिय जानि के, सेस न दीन्हें कान।
धरामेरु सब डोलते, तानसेन की तान ।।

तानसेन के सूर के एक पद को गाने पर कहते हैं, एक समय

अकवरी दरबार में एक मनोरंजक प्रसंग वर्णित हुआ। तानसेन ने यह पद गाया था—

जसुदा वार-वार यों भाखै।
है कोउ व्रज में हितू हमारो, चलत गुपालहिं राखै॥

अकवर ने पूछा इसका अर्थ क्या है। तानसेन ने कहा कि यशोदा सम्मुख उपस्थित वियोग से कातर होकर व्रज में वार-वार कहती है कि व्रज में कोई हमारा ऐसा बंधु है जो कृष्ण को मथुरा जाने से रोक दे।

इतने में शेख फैजी आ गये। उन्होंने कहा 'वार-वार' फूट-फूट कर रोते हुए कहती हैं। बीरवल के आने पर उनसे पूछा गया तो बोले "यशोदा "वार-वार" अर्थात् दरवाजे-दरवाजे जाकर यह कहती हैं"। ज्योतिषी जी बोले "यशोदा जी "वार-वार" अर्थात् प्रतिदिन ऐसा कहती हैं"। खानखाना आये तो बोले "यशोदा "वार-वार" अर्थात् वाल-वाल (रोम-रोम) से कहती हैं"।

वादशाह ने जब खानखाना को बतलाया कि और लोगों ने इसका और ही और अर्थ बतलाया तो खानखाना ने अर्ज किया, जहाँपनाह असल अर्थ तो वही है जो मैंने किया। और लोगों ने अपनी अवस्थानुसार उसका अर्थ लगाया है। बादशाह ने पूछा, "अपनी-अपनी अवस्थानुसार कैसे ?" खानखाना ने जवाब दिया, तानसेन गवैया हैं, ये स्वभाव से ही एक-एक अंतरा को बार-बार गाते हैं इसलिए इन्होंने बार बार अर्थ किया। बीरवल ब्राह्मण हैं, ब्राह्मणों का काम दरवाजे-दरवाजे भीख माँगना है, इसलिए उन्होंने "द्वार-द्वार" अर्थ किया। शेख फैजी कवि हैं रोना-धोना हो नसीब में लिखा लाये हैं, इसलिए उन्होंने "रो-रो" अर्थ किया। ज्योतिषी जी का काम दिन वार की गिनती करना है इसलिए उन्हें आदित्यवार, सोमवार, मंगलवार की सूझी।

बादशाह यह सुनकर बहुत हँसे, उन्होंने सूर की गंभीर पद्योजना की अत्यंत सराहना करते हुए कहा कि मेरी समझ में सभी अर्थ सही हैं।

× × × ×

गोसाईं तुलसीदास जी के शिष्य वेणीमाधवदास ने अपने गुरु का एक बृहद् चरित्र लिखा था। वह तो अब मिलता नहीं, किंतु मूल गोसाईंचरित्र नाम से उसका सार हाल ही में मिला है जिसको उसने नित्य पाठ के लिए निर्मित किया था। इस मूल चरित में वेणीमाधवदास ने संवत् १६१६ के आरंभ में गोकुलनाथ के भेजे सूरदासजी का गोसाईं तुलसीदास जी के दर्शनार्थ आने का उल्लेख किया है। वेणीमाधवदास लिखते हैं—

सोरह सै सोरह लगे, कामद गिरि ढिग वास।
सुचि एकांत प्रदेस महँ, आये सूर सुदास ॥ २९ ॥
पठये गोकुलनाथ जी, कृष्णरंग मे बोरि।
दृग फेरत चित चातुरी, लीन्ह गोसाईं छोरि ॥ ३० ॥

कवि सूर दिखायउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नटनागर को ॥
पद-द्वय पुनि गाय सुनाय रहे। पद पंकज पै सिर नाय कहे ॥
अस आसिष देउय स्याम टरे। यही कीरति मोरि दिगंत चरै ॥
सुनि कोमल बैनि मुदादि दिये। पदु पोथी उठाय लगाय हिये ॥
कहै स्याम सदा रस चाखत है। रुचि सेवक की हरि राखत है ॥
तनिको नहि संसय है यहिमाँ। स्रुति सेष बखानत है महिमा ॥
दिन सात रहे सतसंग पगे। पद कंज गहे जब जान लगे ॥
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किये। पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिए ॥
लै पाति गये (तब) सूर कवी। उर में पधराय के स्याम छवी ॥

इसके अनुसार सूरदासजी चित्रकूट पर्वत पर कामद वन में गोसाईं तुलसीदास जी को मिलने आये थे। सात दिन तक वे उनके सत्संग में रहे और उन्हें सूरसागर दिखाया। दो पद उन्होंने गोसाईं जी को स्वयं

गाकर सुनाये और कृष्ण की कृपा एवं सूरसागर के दिगंतव्यापी प्रचार का आशीर्वाद माँगते हुए उनके चरणों में प्रणाम किया। तुलसीदासजी ने उनके ग्रंथ की बड़ी प्रशंसा की और उसे छाती से लगा लिया। उन्होंने सूर को विश्वास दिलाया कि श्याम तुम्हारी रचना का रस चखा करते हैं, वे अवश्य तुम्हारी कामना पूर्ण करेंगे, क्योंकि भक्त की रुचि की रक्षा करना भगवान् का स्वभाव है। इस रामभक्त कवि के सत्संग में सूरदास की कृष्णभक्ति और भी दृढ़ हो गई। जब सूरदास जी जाने लगे तो गोसाईं जी ने गोकुलनाथ जी को पत्र लिखकर दिया।

वेणीमाधव दास का अपने गुरु को बढ़ाने का प्रयत्न करना स्वाभाविक ही है। सूरदास जी की तुलसीदास जी से भेंट होना बहुत संभव है, परंतु जिस रूप में और जिस स्थान पर वेणीमाधवदास ने उसका होना लिखा है वह भी असंभव नहीं; यथासंगत उनका अनायास मिलना ही जान पड़ता है। इस संबंध में गोकुलनाथ जी का उल्लेख ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि संवत् १६१६ में उनकी अवस्था केवल आठ वर्ष की थी। अतएव उनका तुलसीदासजी के पास सूर को भेजना तथा तुलसीदास का उनको चिट्ठी लिखना घटता नहीं। संभवतः यह लेखनी का प्रमाद मात्र है। हो सकता है कि वेणीमाधवदास विट्ठलनाथ लिखना चाह रहे थे लेकिन गलती से गोकुलनाथ लिखा गया हो जैसा अक्सर हो जाया करता है।

वार्ता में सूरदास के जीवन का एक और प्रसङ्ग वर्णित है। कहते हैं, एकबार सूरदास बहुत से भक्त जनों के साथ चले जाते थे। एक स्थान पर देखा कि कुछ लोग चौपड़ खेलने में ऐसे मग्न हैं कि किसी भी आते-जाते की खबर न होती थी। अपने साथ के भक्तजनों से सूरदास ने कहा, देखो भगवान् ने इनको अमूल्य मानव-देह दी है, उसको ये लोग इस तरह चौपड़ खेलने में बिता रहे हैं जिससे न इह-लोक में कुछ स्वार्थ सिद्ध होता है और न परलोक में। अगर चौपड़

खेलनी हो हो तो कैसो, यह दिखलाने के लिए उन्होंने नीचे लिखा पद बनाकर गाया—

मन तू समझ सोच विचारि।
भक्ति बिन भगवान दुर्लभ कहत निगम पुकारि॥
साधु संगति डाल पासा फेरि रसना सारि।
दाव अबके परयो पूरो उतरि पहली पारि॥
बाक सत्रे सुनि अठारे, पाँच ही को मारि।
दूर तें तजि तीन काने, चमकि चौक विचारि॥
काम क्रोध जँजाल भूल्यो ठग्यो ठगनी नारि।
सूर हरि के पद भजन बिनु चल्यो दोउ कर झारि॥

वैकुंठयात्रा

सूरदास जी के देह-विसर्जन की तिथि का ठीक-ठीक पता नहीं। परन्तु उसका कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में उनकी वैकुंठ-यात्रा के प्रसङ्ग का वर्णन विस्तार से दिया हुआ है उसमें लिखा है कि जब सूरदास जी को मालूम हुआ कि अब अन्त समय निकट है, प्रभु बुलाना चाहते हैं तो परासोली गाँव में चले आये जो रासलीला का स्थान माना जाता है। परासोली से श्रीनाथजी की ध्वजा दिखाई देती थी। उसके सन्मुख होकर उसे प्रणाम कर सूरदासजी अचेत हो गये। इधर श्रीगोसाईंजी ने श्रीनाथजी के शृंगार के समय देखा कि कीर्तन नहीं हो रहा है तो सेवकों को पूछा कि वे कहाँ हैं। जब उन्हें पता लगा कि सूरदास परासोली की ओर गये हैं तो समझ गये कि सूरदास का अन्तकाल निकट है और सब लोगों से बोले कि पुष्टिमार्ग का जहाज डूबनेवाला है। उसमें से जिससे जो कुछ लेते बने ले ले, देर न करे। सारा वैष्णव समुदाय

परासोली की ओर चल पड़ा। राजभोग आरती इत्यादि करके श्रीगोसाईं जी भी सूरदासजी के पास पहुँचे और उनकी कुशलता पूछी। सूरदास जी बोले, अच्छा किया, आप आ गये; मैं बाट देख ही रहा था और यह पद गाने लगे —

देखो देखो हरि जी को एक सुभाइ।
अति गंभीर उदार उदधि प्रभू जान सिरोमन-राइ॥
राई जितनी सेवा को फल मानत मेरु समान।
समझि दास अपराध सिंधु सम बूंद न एको जानि॥
वदन प्रसन्न कमल पद सन्मुख दीखत ही हैं ऐसे।
ऐसे विमुखहु भये कृपा या मुखकी तब देखी तब तैसे॥
भक्त विरह कातर करुणामय डोलत पाछें लागे।
सूरदास ऐसे प्रभुको कत दीजै पीठ अभागे॥

चतुर्भुजदास जी भी उस समय वहीं थे। उन्होंने पूछा सूरदासजी भगवद्यश का तो आपने खूब वर्णन किया है पर कभी गुरुवन्दना नहीं की। सूरदास ने कहा भाई अगर मैं भगवान् और गुरु में भेद समझता तो भगवान् की अलग वन्दना करता और गुरु की अलग। परन्तु वस्तुतः भगवान् और गुरु में पार्थक्य है ही नहीं। इसलिए उनके अलग-अलग यशोगान की आवश्यकता नहीं। फिर भी चतुर्भुजदास का मन रखने के लिए उन्होंने यह पद गाया—

भरोसो दृढ़ इन चरननि केरो।
श्रीवल्लभ नख चंद्र छटा बिनु सब जग माँझि अँधेरो॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरो।
सूर कहा कहि द्विविध आँधरो बिना मोल को चेरो॥

यह पद गाकर सूरदास को मूर्छा आ गई। तब श्री गुसाईं जी ने उन्हें सचेत करने की चेष्टा करते हुए पूछा सूरदासजी चित्त की वृत्ति कहाँ है? उत्तर में सूरदास जी ने गाया—

रागविहागरौ

फलि बनि चलि हो कुमर राधिका, नंद सुवन जानों रतिमानी ।
वे अति चतुर तुम चतुर सिरोमन प्रीति करो कैसें होत है छानी ॥
धेनु धरत तन कनक पीत पट सो तो सब तेरी गति ठानी ।
ते पुनि स्याम सहेज वे सोभा अंबर मिस अपने उर आनी ॥
पुलकित अंग अबही है आयो निरखि देखि निज देह सयानी ।
सूर सुजान सखि के बूझे प्रेम प्रकास भयो विहसानी ॥

यह कहते कहते उनकी आँखें डबडबा आईं। इसपर गोसाईंजी ने पूछा सूरदास जी नेत्रों की वृत्ति कहाँ है—

खंजन नैन रूप रस माते ।
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते ॥
चलि चलि जात निकट श्रवनन के उलटि पुलटि ताटंक फँदाते ।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु अबै उड़ि जाते ॥

यह कहते कहते इस लोक की लीला का सम्वरण कर सूरजी भगवल्लीला में समा गये ।

इस वर्णन से सूरदास जी के देह-विसर्जन का विवरण तो मिलता ही है, साथ ही साथ उनकी मृत्यु का समय निश्चित करने में भी सहायता मिलती है। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि सूरदास जी गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सामने मरे। विट्ठलनाथजी की मृत्यु संवत् १६४२ में हुई। इसलिए सूरदास जी की मृत्यु संवत् १६४२ से पहले हुई होगी। ऊपर अबुलफजल के जिस पत्र का हम जिक्र कर आये हैं, उससे पता चलता है कि सूरदासजी संवत् १६४० तक विद्यमान थे। क्योंकि उसमें बादशाह के इलाहाबाद आने की सूचना दी है और इलाहाबाद की स्थापना संवत् १६४० में हुई। अतएव सूरदास की मृत्यु संवत् १६४० और १६४२ के बीच किसी समय में होनी चाहिए।